मुक्तिबोध के काव्य में जन-चेतना

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० की उपाधि हेतु प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

अनुसंधाता

विनोद कुमार त्रिपाठी

निर्देशक

प्रो० राजेन्द्र कुमार वर्मा

(भूतपूर्व अध्यक्ष)

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

जनवरी - 2002

भूमिका

साहित्य का अध्ययन और उसमे रूचि रखना बहुधा किसी कारण का मोहताज़ नहीं होता। वह स्वयं में ही अपना उद्देश्य हुआ करता है। इसके पश्वात् भी शोध कार्य के अध्येय विषय के रूप में मुक्तिबोध का चयन करना अन्तत एक सयोग और मेरी शैक्षिक पृष्ठभूमि का परिणाम है। इला०वि०वि० की परास्नातक कक्षाओ मे मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' मेरे पाठ्यक्रम मे थी। उस कविता के शिल्प और काव्य की पैनी और फैंटेसीपूर्ण भंगिमा नें मुझे गहरे अर्न्तमन तक प्रभावित किया। यद्यपि समीक्षकों ने इस कविता के शिल्प सौष्ठव और अर्थ व्याप्ति को समझना अत्यन्त चुनौतीभरा कार्य स्वीकार किया है लेकिन मुझे उनकी कविता की भाषा, बनावट और शिल्प का ऊबड़-खाबड़पन ही इस शोध का प्रेरणास्रोत बना।

मुक्तिबोध के जीवन संघर्ष और उनके साहित्य के अर्न्तसंघर्ष को देखकर नवी शती के समीक्षक (काव्यशास्त्री) राजशेषर की एक उक्ति अत्यन्त सार्थक प्रतीत होने लगती है - "स यत् स्वभावः कविः नदनुरूपं काव्यम्।" क्योंकि मुक्तिबोध का साहित्य भी उनके जीवन की भॉति संघर्षशील और जटिल विचार श्रृखलाओं का समवाय है। जिस प्रकार उनके जीवन में बेचैनी पसरी हुई है ठीक उसी प्रकार बेचैनी और स्वप्न संघर्ष वाला ऊबड़-खाबड़ चेहरों वाला "ब्रह्मराक्षस" उनकी कविताओं में पसरा हुआ है। मुक्तिबोध की विशिष्टता इस दिशा में अन्यतम है कि जीवन में जिन अन्धकूपों, बावड़ियों, चक्करदार रास्तों, ओरांग-उटांगों का उन्होनें वास्तविक रूप में

सामना किया, वे उतनी ही संजीदगी के सघर्षशील तेवर के साथ उनकी कविताओं में स्थान पाते हैं। सोचने समझने की दृष्टि से भले ही यह उतनी महत्वपूर्ण उपलब्धि न प्रतीत हो, लेकिन साहित्य अध्ययन और समीक्षा की दृष्टि से यह एक अत्यन्त मूल्यवान लक्षण है। मस्तिष्क में व्याप्त रहने वाली बेचैनी कभी उतनी महत्वपूर्ण नहीं होती जितनी साहित्य के रूप में पन्नों पर उतरती हुई वह बेचैनी जो दूसरे भी प्रतिबद्ध मस्तिष्क को बेचैन करने की क्षमता रखती है। इस दृष्टि से मुक्तिबोध हिन्दी साहित्य में अकेले हैं। क्योंकि मुक्तिबोध एक ऐसे कवि के रूप में सामने आये जिनकी उक्ति, अनुभूति और अभिव्यक्ति में कोई विसंगति, असंगति अथवा दुराव नहीं है। ईमानदार जीवन और ईमानदार अभिव्यक्ति सदैव उनके समक्ष चुनौती के रूप में प्रस्तुत रही, उन्होंनें सदैव उन दोनों का सामना भी किया।

प्रस्तुत शोध कार्य पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में 'जन चेतना का स्वरूप' को जन एवं चेतना के अर्थ एवं परिभाषाएं देकर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साहित्य में जन-चेतना की क्या स्थिति रही है इसको भारतीय एवं पाश्चात्य संदर्भ देते हुए स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय अध्याय मुक्तिबोध का जीवन एवं उनकी जन चेतना का अन्तर्सम्बन्ध है। इस अध्याय में किसी के साहित्य को समझने के लिए उसके जीवन को क्यों समझा जाये, को स्पष्ट करते हुए अनके बचपन की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं पारिवारिक स्थिति को स्पष्ट किया गया है। कैसी उनकी शिक्षा रही एवं

कैसे उनका साहित्य का पाहिया आगे चला, भी स्पष्ट करने की चेष्ठा की गयी है। अन्त में उनकी साहित्यिक ऊँचाई कहां तक पहुंची एवं जीवन कैसे बीता बताया गया है।

तृतीय अध्याय में मुक्तिबोध के काव्य-विकास को जन चेतना के संदर्भ में दर्शाया गया है। किस तरह और क्यों मुक्तिबोध छायावाद के प्रभाव में आए और कैसे छायावादी भावुकता से निकलकर यथार्थ के ठोस धरातल पर आए। छायावाद के बाद मुक्तिबोध कैसे-कैसे दार्शनिक धरातलों में विचरते हुए मानवता से ओत-प्रोत होकर समाज के उपेक्षितों के अमर नायक बने।

चतुर्थ अध्याय मुक्तिबोध की जन चेतना एवं आधुनिक काव्य से संबंधित है। प्रस्तुत अध्याय में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि आधुनिक काल में जो साहित्यिक आंदोलनों का दौर रहा उसमें मुक्तिबोध एवं उनके काव्य की क्या स्थिति रही। साथ ही क्यों और कैसे उनके काव्य में परिवर्ततन आया।

पञ्चम और अन्तिम अध्याय मुक्तिबोध की जन-चेतना और काव्य शिल्प में उसकी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है। प्रथमतः इसमें उनकी कविता के स्वरूप पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। साथ ही अनुभूति और अभिव्यक्ति की समस्याओं और संदर्भो को खंगालने का प्रयत्न है। इस अध्याय में यह देखने का प्रयास किया गया है, कि ऊबड़-खाबड़ जीवन संदर्भो को व्यक्त करने के लिए क्या जटिल शब्द संदर्भो की आवश्यकता होती है ? यदि है तो क्या मुक्तिबोध की शब्दावली इस मोर्चे

पर खरी उतरी है। निष्कर्षतः मैनें पाया कि जटिल जीवन संदर्भों की अभिव्यक्ति की जो आवश्यकता मुक्तिबोध अपने साहित्यिक निबंधों में जटिल भाव बोधों के माध्यम से अनुभव करते हैं, उसे वे अपने साहित्य में पूर्णतः चरितार्थ भी करते हैं।

अन्ततः मैं यह कहूँ कि यह शोधकार्य जैसा भी बन पड़ा मेरे शुभेच्छुओं की अनुकम्पा का ही परिणाम है। मेरा यह शोध कार्य प्रारम्भतः भूतपूर्व विभागाध्यक्षा प्रो० मीरा श्रीवास्तव के निर्देशन में प्रारम्भ हुआ, किन्तु उनके विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में जापान प्रवास के पश्चात् यह गुरूतर दायित्व गुरूदेव प्रो० राजेन्द्र कुमार वर्मा नें संभाला। अतः मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि इस कार्य के अब्याहत सुचारू सम्पन्न होने का निर्णायक श्रेय आदरणीय गुरूवर वर्मा जी को ही जाता है। अतः मैं नारियल की तरह के व्यक्तित्व के धनी प्रो० वर्मा को शत्-शत् नमन करता हूँ। परमादरणीय गुरूश्रेष्ठ प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र का भी आजीवन ऋणी रहूंगा, उनके अमूल्य योगदान की अभिव्यक्ति के लिए मैं शब्दों के प्रयोग को मात्र औपचारिकता ही मानता हूँ, जो अपर्याप्त है। प्रो० राजेन्द्र कुमार अध्यक्ष, हिन्दी विभाग नें भी मेरी समस्याओं को निस्तारित करने में अत्यन्त सहृदयता एवं स्नेह का परिचय दिया अतः उनके निःस्वार्थ कृपाभाव की अभिव्यक्ति मेरे शब्दों की परिधि में नहीं आती है। इस महत्वपूर्ण अवसर पर मैं डा० मीरा दीक्षित, प्रो० एस०बी० शुक्ल (अंग्रेजी विभाग, इ.वि.वि.) प्रो० राम स्वरूप चतुर्वेदी, प्रो० मोहन अवस्थी, प्रो० सूर्य प्रसाद दीक्षित, परमादरणीय निवर्तमान प्रो० श्याम सुन्दर शुक्ल (बी०एच०यू०)

प्रो० राम देव शुक्ल (गोरखपुर वि०वि०) इत्यादि प्रातः स्मरणीय विद्वानों के स्नेह, दुलार एवं आशीर्वाद के लिए कृतज्ञता पूर्वक विनयावनत होते हुए स्मरण करना पुण्यकार्य मानता हूँ। इसके अतिरिक्त समय-समय पर कृपाछाया प्रदान करने वाले प्रातः स्मरणीय डा० जय शंकर त्रिपाठी (निर्वत० संस्कृत विभागाध्यक्ष, ईश्वर शरण डिग्री कालेज, इ.वि.वि.) डा० विमल चन्द्र शुक्ल (प्रा० इति०विभाग ई०सी०सी० इला० वि०वि०) श्री कृष्ण मोहन त्रिपाठी (निदेशक, सीमेट, इलाहाबाद) के प्रति भी मै एतत्समय श्रद्धावनत हूँ।

अपने जीवन के इस महत्वपूर्ण अवसर पर जीवन के विविध अवसरों पर साहचर्य व सानिध्य प्रदान करने वाले अभिन्न मित्रों डा० राम चन्द्र शुक्ल (सचिवा०, लखनऊ), श्री शैलेन्द्र त्रिपाठी (फिरोज गाँधी कालेज, रायबरेली), डा० शिव प्रसाद शुक्ल (अरविंद आर्ट कालेज, गुजरात), श्री ओम प्रकाश शुक्ल (पी०सी०एस०, मध्यप्रदेश सरकार), श्री विनोद तिवारी (मुंसिक मजिस्ट्रेट, बिहार), डा० रजनीश प्रकाश तिवारी (जी०आई०सी०, रायबरेली) श्री दिनेश कुमार राय, शैलेश बाजपेई, भानु प्रकाश त्रिपाठी एवं श्री वीरेन्द्र सिंह जो हर सुख-दुख के साथी हैं, को स्मरण करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है।

अन्ततः मैं अपने पिताश्री डा० प्रेम शंकर त्रिपाठी (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कमला नेहरू स्नातकोत्तर महा०, तेजगाँव, रायबरेली) तथा माता जी को अपनी कृतज्ञता किस तरह ज्ञापित करूँ इस विषय में मैं अपने को विमूढ ही महसूस

करता हूँ, क्योंकि उनकी सद्प्रेरणा एवं वात्सल्य से ही यह शोध प्रबन्ध पूर्ण हुआ। इस कार्य की पूर्णता का श्रेय मेरी पत्नी को भी कम नहीं है क्योंकि मेरी व्यस्तता के कारण कई बार उन्हें समस्याएं उठानी पड़ी। प्रभात और प्रफुल्ल जो मेरे सहज स्नेह से कई बार वंचित हुए एवं उनकी बाल सुलभ क्रीड़ाओं में मैं बाधक बना था, अतः वे भी स्मरणीय हैं।

इस सिलसिले में मैं अपने दादा श्री गिरिजा शंकर त्रिपाठी एवं आदरणीया बुआ जी एवं भाभी श्रीमती अंशुलता त्रिवेदी का ह्रदय से आभार व्यक्त करना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होनें रायबरेली शहर में किसी परेशानी को मेरे पास फटकने तक नहीं दिया। विशेष रूप से शोध कार्य के अन्तिम चरण में भाभी जी का जो स्नेह मिला, भुलाए नहीं भूलता।

अन्त में मैं अपने बाबा एवं परमश्रद्धेय प्रातः वन्दनीय स्वामी जी को स्मरण करके अपने को कृतकृत्य मानता हूँ। इस कार्य की पूर्णता में कम्प्यूटर आपरेटर श्री चन्द्रा रमेश को बिना याद किये बात नहीं बनेंगी, क्योंकि उन्होनें बड़ी निष्ठा और लगन से इस कार्य को किया।

मुक्तिबोध जैसे जटिल जीवन बोध और सुचिन्तक समीक्षक के साहित्य की दिशा दशा पहचानना और उसे परिभाषित कर लेने का विश्वास पालना मेरे जैसे सामान्य और निरनुभवी साहित्य अध्येता के लिए वस्तुतः भ्रम में जीने अथवा असफलताओं में भी प्रसन्नता के कुछ क्षण खोज लेने के प्रयास से अधिक कुछ नहीं

है। क्योंकि विद्वानों के अनुसार साहित्य का विश्लेषण वह भी निर्भ्रांत सदैव चूड़ान्त शास्त्रज्ञान का परिणाम होता है, जो निःसंशय मेरे पास नहीं है। अतः मुक्तिबोध की जन चेतना को परिभाषित करने का मेरा यह प्रयास अत्यन्त छोटी नौका से सागर पार करने जैसा ही है ---

"तितीर्षुर्दुस्तरं सागरं मोहदुडुपेनास्मि सागरं।"

पुनरपि यह शोधग्रन्थ यदि मुक्तिबोध की जन चेतना को समझने की दिशा में साहित्य शोधकों को किञ्चितमात्र भी सहायक हो सके तो मैं अपना प्रयास सार्थक समझूगा ---

आपरितोषात् विदुषां न मन्ये साधु प्रयोग विज्ञानम्

विनोद कुमार त्रिपाठी
(विनोद कुमार त्रिपाठी)

इलाहाबाद

७ जनवरी, २००२

अनुक्रम

भूमिका **पृष्ठ संख्या**

1 — 43

अध्याय - प्रथम

जन-चेतना का स्वरूप

१. जन का अर्थ एवं परिभाषा

२. चेतना का अर्थ एवं परिभाषा

३. साहित्य में जन-चेतना की अवधारणा

४. भारतीय संदर्भ

५. पाश्चात्य संदर्भ

अध्याय - द्वितीय 44 — 82

मुक्तिबोध का जीवन और उनकी जन-चेतना का अन्तर्सम्बन्ध

१. साहित्यिक अध्ययन हेतु जीवनगत अध्ययन आवश्यक क्यों ?

२. मुक्तिबोध के बचपन के समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं पारिवारिक स्थिति

३. शिक्षा एवं साहित्यिक अभिरूचि का विकास

४. रचनात्मक उत्कर्ष का काल एवं जीवन की विसंगत स्थितियाँ

अध्याय - तृतीय 83

मुक्तिबोध का काव्य-विकास जन-चेतना के संदर्भ में

१. काव्य विकास

२. छायावादी जीवन दृष्टि और मुक्तिबोध

३. वर्गसोंनिय चिंतन और मुक्तिबोध

४. मार्क्सवादी चिंतन और मुक्तिबोध

५. मुक्तिबोध और मानवतावाद

अध्याय - चतुर्थ 123

मुक्तिबोध की जन-चेतना एवं आधुनिक काव्य

१. छायावादी काव्यान्दोलन और मुक्तिबोध

२. प्रगतिवादी काव्यान्दोलन और मुक्तिबोध

३. प्रयोगवादी काव्यान्दोलन और मुक्तिबोध

४. नयी कविता आन्दोलन और मुक्तिबोध

क. नयी कविता का जन्म

ख. सामाजिक स्थिति और कवि का संवेदनात्मक सम्बन्ध

ग. नये कवि की अभिव्यक्तिगत परिसीमा

घ. नयी कविता और आधुनिक भावबोध

अध्याय – पञ्चम

मुक्तिबोध की जन-चेतना की काव्यशिल्प में अभिव्यक्ति

१. कविता का स्वरूप

क. लघु आकारी कविता

ख. मध्यम आकारी कविता

ग. दीर्घ आकारी कविता

२. काव्य शिल्प

३. बिम्ब योजना

४. प्रतीक योजना

५. फैंटेसी योजना

उपसंहार

संदर्भ ग्रन्थ

अध्याय – प्रथम
जन–चेतना का स्वरूप

जन का अर्थ एवं परिभाषा :–

"जन" शब्द का सामान्य अर्थ "मनुष्य" है अथवा "सामान्य अर्थो में इस शब्द से समाज में रहने वाले लोगो का बोध होता है।"१ परन्तु मुक्ति–बोध के वाक्य में "जन" या जनता शब्द अपने विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। "जन" शब्द की उनकी अवधारणा मार्क्सवादी दर्शन को आधार बनाकर विकसित हुई है। उनके साहित्य में "जन" शब्द का प्रयोग अधिकतः दलित, शोषित, पीडित एव अभावग्रस्त मनुष्य के अर्थ में किया गया है। भारत में जिनका प्रतिनिधित्व मेहनतकश मजदूर किसान व सर्वहारा वर्ग के अन्य मनुष्य करते हैं। उनके काव्य में "जन" शब्द इसी वर्ग के लिये प्रयुक्त हुआ है।

जन को सामान्य अर्थो में जनता से भी जोडा जाता है। जनता शब्द समाज मे रहने वाले उन सभी लोगों से सम्बन्धित है, जो सत्ता से अलग है। जिनका प्रभु वर्ग से अलग वर्ग होता है। "जनता" शब्द को हिन्दी साहित्य कोष में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है। "यह शब्द विभिन्न रूपों में प्रयुक्त होता है। कभी–कभी यह समाज की रहस्यात्मक एकता का प्रतीक माना जाता है, किन्तु अधिकांश लोग इस शब्द से केवल समाज के सम्पूर्ण सदस्यों का संघटित स्वरूप ही समझते हैं।"२

१– हिन्दी साहित्य कोश, भाग–१, पृ०–२५६
२– हिन्दी साहित्य कोश, भाग–१, पृ०–२५७

सदस्यो का संघटित स्वरूप ही जनतंत्र के रूप मे प्रतिफलित होता है। जनतंत्र शब्द अग्रेजी के "डेमोक्रेसी" शब्द का हिन्दी पर्याय है। इस शब्द का प्रयोग चिन्तन के इतिहास में विभिन्न अर्थो में किया गया है। अपने व्यापक रूप में जनतंत्र एक निश्चित प्रकार की समाज व्यवस्था और शासन प्रणाली का द्योतक है। समाज व्यवस्था के रूप में जनतंत्र समता और स्वतन्त्रता की स्थापना कर समाज को एक विशाल भ्रातृत्व के बन्धन में बांधने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से जनतत्र एक विशिष्ट मानववादी चिन्तन का प्रतीक है। इसके मानववाद के मूल में समष्टि की नैतिक प्रतिष्ठा की गयी है और समष्टि की ही परिधि में व्यक्तियों का प्रक्षेपण सम्भव है। इस नाते जनतन्त्र सामाजिक जीवन मे उन सभी परिस्थितियों का निवारण करना चाहता है, जो व्यक्तिगत प्रशस्ति का मार्ग रोकती है। अतः जनतत्र आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक न्याय की रचना करता है। शासन प्रणाली के रूप में जनतंत्र अपने नैतिक आदर्शो की पूर्ति के लिये राज्य की सम्प्रभुता पर नियंत्रण करना चाहता है क्योंकि यह आदर्श जनता और समाज के बीच का जीवित विश्वास है। जनतंत्र के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि वह जनता और समाज द्वारा ही इन आदर्शो की प्राप्ति का प्रयास करे।

जनतत्र के अंग्रेजी समानार्थी शब्द "डेमोक्रेसी" में डेमो शब्द का अर्थ "जनता" है। अतः व्युत्पत्ति मूलक अर्थ में भी "डेमोक्रेसी" शब्द जनता और समाज की महत्ता को अंगीकार करता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो पता चलता है कि समाज और जनता की उच्चता सबसे पहले शासन प्रणाली के रूप में

विकसित हुई है। ग्रीस मे जनतत्र का स्वरूप राजनीतिक व्यवस्था के रूप मे परिलक्षित होता है। रोमनकाल में भी जनता को ही सैद्धांतिकदृष्टि से अधिकार स्रोत माना गया था। शासन प्रणाली के रूप में जनतत्र की मूल भावना यह है कि किसी व्यक्ति या वर्ग को कोई ऐसा अधिकार नहीं प्राप्त है कि वह सम्पूर्ण जनता के भाग्य का फैसला करे, वरन उचित और तर्क सगत बात तो यह है कि जनता ही अपने भाग्य का फैसला करे, अब्राहम लिंकन(१८०६–१८६५ई०)का यह वाक्य कि ''जन तंत्र वह शासन है, जो जनता का है, जो जनता द्वारा होता है, और जो जनता के लिये होता है, और जनतन्त्रात्मक शासन–प्रणाली के ठीक रूप से व्यक्त करता है।''१

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ''डेमोक्रेसी'' का शाब्दिक अर्थ है – ''जनता का शासन''। लोकतत्र की कोई निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती है। जो इस शब्द के पीछे छिपे समस्त इतिहास को उजागर कर सके। भिन्न–भिन्न युगों में विभिन्न विचारकों ने अपनी परिभाषायें की हैं जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जनता का शासन वही है जिसमें जनता की सम्प्रभुता हो। जनता का क्या अर्थ है, सम्प्रभुता कैसी हो और कैसे सम्भव हो ? यह सब विषय विवादित रहे हैं, फिर भी जहां तक जनतंत्र का प्रश्न है, जनतंत्र मे जनता ही सत्ताधारी है। जनता की अनुमति से शासन होता है। जनता की प्रगति ही शासन का एक मात्र लक्ष्य माना जाता है।

१– इनसाइक्लोपीडिया–ब्रिटानिका,भाग–१, पृ०–१२०६ उद्घृत–हिन्दी साहित्य कोष भाग – १ पृ०–२५६

सामान्यत. जनतंत्र २ प्रकार का है – (१) प्रत्यक्ष जनतत्र (२) अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि जनतंत्र। प्रत्यक्ष जनतत्र की अवधारणा प्राचीन है। क्योंकि यह व्यवस्था केवल छोटे राज्यों में ही सफल हो सकती है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक रूषो इसी तरह के जनतत्र को उपयुक्त मानते हैं। यह व्यवस्था प्राचीन यूनान के नगर राज्यों में पायी जाती थी, जहां नागरिक एक जगह एकत्रित होते थे। वर्तमान बडे राज्यो मे यह व्यवस्था सम्भव नहीं है। अतः अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि जनतत्र ही सफल हैं। इसमे जन भावना की अभिव्यक्ति चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा की जाती है। जनता स्वयं शासन न करते हुए भी चुने हुए प्रतिनिधियों को यह अधिकार प्रदान करती है। यही आधुनिक जनतंत्र का मूलाधार है।

अन्ततः जन या जनता का सम्बन्ध समाज के उन सभी लोगों से है जो उत्पादन कार्य में लगे हैं, और उनको अपने उत्पादन का सही मूल्य नहीं मिल रहा है। समाज का प्रभु वर्ग उनकी मेहनत की कमाई को एकत्रित कर रहा है और वे लोग जीवन यापन के लिये दर–दर भटक रहे हैं। समाज का पूंजीपति अपने ढंग से पूंजी को नियंत्रित, चालित परिचालित कर रहा है। मुक्तिबोध ने स्वयं लिखा है जिससे जन या जनता का स्वरूप स्पष्ट है ———— "आज का युग ही सेवा है कि पुराणपन्थियों मे से बहुतेरों ने अपना–अपना जामा बदल दिया है,

अपने मुहावरे और अंदाज भी बदल दिये है। हो सकता है कि ये लोग आज यूनेस्को की अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली में बात करते हों, और यह भी हो सकता है कि नागपुर यूनीवर्सिटी से तुलसीदास के दर्शन पर उन्होंने अपनी पुस्तक प्रकाशित करवायी हो। पुराणपन्थी से हमारा तात्पर्य उन सभी सज्जनो से है जिनका सौजन्य सामान्य जन की बौद्धिक–सामाजिक–राजनैतिक मुक्ति के आडे आना है। "सामान्य–जन" या "जनता" शब्द के प्रयोग से घबराने की जरूरत नहीं (यद्यपि तरह–तरह के अवसरवादियों द्वारा इस शब्द का खूब दुरूपयोग किया गया है)। मध्य वर्ग के गरीब बुद्धिजीवी लोग भी जनता में शामिल हैं, बशर्ते कि वे समाज की थैली–शाही के भोंपू न बने। हो सकता है कि गरीब बुद्धिजीवी और लेखक भटका हुआ हो किन्तु उसकी स्वयं की स्थिति कोई उससे छीन नहीं लेता। और आम तौर पर उसकी स्थिति ही ऐसी है कि वह जनता में है। चण्डीदास का वह पद – शुनह मानुष भाई शबार ऊपर मानुष शत्तो ताहार ऊपरे नाई। – जिस मनुष्य सत्य की घोषणा करता है उसका मूल अधिष्ठान जनता में है। इस जनता को आंखों से ओझल करके देशभक्ति नहीं हो सकती।"१

१– मु० रच०, भाग–५–पृ०'–६४

चेतना का अर्थ एवं परिभाषा

"चेतन मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात वस्तुओं, विषयो, व्यवहारों का ज्ञान। इस प्रवाह के साथ–साथ विभिन्न अवस्थाओ मे एक अविछिन्न एकता और साहचर्य। चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्रय् से प्रभावित होता है और चेतना की अविछिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से। विभिन्न विषयों की अलग–अलग समय पर चेतना होने पर हम सदा यह भी अनुभव करते हैं कि मैने अमुक वस्तु देखी थी। यदि हमारी चेतना अखण्ड और अविछिन्न न होती तो यह अनुभव हमें न होता। लेकिन यह अखण्डता और अविछिन्नता साहचर्य से ही सम्भव है।"

"डिक्शनरी आफ फिलास्फी" में चेतना को इस प्रकार परिभाषित किया गया है – "चेतना वस्तुनिष्ठ यथार्थ पर चिंतन का सर्वोच्च स्वरूप है जो केवल मनुष्य में पायी जाती है। चेतना उन सभी मानसिक क्रियाओं का योग है जो वस्तुगत यथार्थ के बारे में आदमी की समझ और उसकी व्यक्तिगत समझ में सक्रिय रूप से सहायक होती है। चेतना का जन्म मनुष्य की सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया में होता है और यह भाषा से अविभाज्य रूप से जुडी होती है। मनुष्य जन्म एक ऐसे संसार में लेता है जहां उसके पूर्वजों द्वारा अनेक वस्तुओं का निर्माण किया गया है। मनुष्य इन वस्तुओं का एक विशिष्ट उद्‌देश्य के लिये प्रयोग करता है। इसके प्रयोग के लिये मनुष्य अपनी समझ को विकसित करता है, इसी के साथ–साथ मनुष्य में चेतना का भी विकास होता है।"

१– हिन्दी साहि० कोष भाग–१ (ज्ञान मण्डल वाराणसी), पृ०–२४७

यथार्थ के साथ चेतना के सम्बन्ध का स्वरूप मनुष्य की शारीरिक संरचना से प्रत्यक्षत· नियमित न होकर अन्य लोगों के सम्पर्क के द्वारा प्राप्त व्यावहारिक क्रिया की आदतो के द्वारा सम्पन्न होता है। इसीलिये मनुष्य अपने प्रत्येक कार्य को उस सामाजिक कसौटी पर कसता है जो उसके और उसके अलावा अन्य लोगों के बीच समान होता है। चूकि मनुष्य वस्तुओं को अपनी समझदारी और अपने ज्ञान के आधार पर ही परखता है, अतः संसार के प्रति उसके दृष्टिकोण को ही चेतना की संज्ञा दी जाती है।

विवेक और ज्ञान जो मनुष्य के सामाजिक और ऐतिहासिक क्रिया और मानवीय भाषा के परिणाम होते है, इनके अभाव में चेतना असम्भव है। किसी वस्तु का कोई भी ऐंद्रिक बिब किसी भी प्रकार की इंद्रियानुभूति अथवा विचार–चेतना का ही अंश होता है, क्योंकि इसका एक निश्चित अर्थ होता है। ज्ञान, वाच्यार्थ और अर्थ जो भाषा में सुरक्षित होते हैं, मनुष्य के भावों, इच्छा, ध्यान एवं अन्य मानसिक क्रियाओं को एक अकेली चेतना में मिश्रित करके उन्हे निर्देशित करते हैं और उन्हें एक दूसरे से अलग भी करते हैं। ऐतिहासिक, राजनैतिक एवं वैधानिक विचारो, नैतिकता, धर्म, सामाजिक–मनोविज्ञान एव कलागत उपलब्धियों द्वारा सगृहीत ज्ञान समाज की चेतना का निर्माण करते हैं। मनुष्य की सजीव ऐंद्रिक इच्छा–नियमित मानसिक क्रिया के बाहर किसी भी प्रकार का चिंतन नहीं होता। चिंतन में केवल सूचनाओं को संशोधित ही नहीं किया जाता बल्कि यह यथार्थ का एक ऐसा सक्रिय, ऐंद्रिक एवं उद्देश्यपूर्ण रूपान्तरण होता है जो यथार्थ के अपने स्वय के सार तत्व के अनुरूप होता है।

भाषा के भीतर सोचना, सोचने का महज एक प्रकार भर है। दूसरी ओर यह भी ध्यान रखा जाना चाहिये कि चेतना की अवधारणाओं को मनोविज्ञान के साथ गड्ड–मड्ड न किया जाय, अर्थात चेतन मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात वस्तुओं, विषयों, व्यवहारो का ज्ञान। चेतना की परिभाषा कठिन है पर इसका वर्णन हो सकता है। चेतना की प्रमुख विशेषताएं हैं निरंतर परिवर्तनशीतला अथवा प्रवाह, इस प्रवाह के साथ–साथ विभिन्न अवस्थाओ में एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य। चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र से प्रमाणित होता है और चेतना से अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से। विभिन्न विषयों की अलग–अलग समय पर चेतना होने पर हम सदा यह भी अनुभव करते हैं कि "मैने अमुक वस्तु देखी थी।" यदि हमारी चेतना अखण्ड और अविच्छिन्नता साहचर्य से ही सम्भव है। विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं में साहचर्य (अथवा आसंग) के द्वारा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि वे मिलकर एक चेतना का अंग बन जाती है। मानसिक संघर्ष, अत्यधिक दमन और भावनात्मक आघातों से ये साहचर्य नष्ट भी हो जाते हैं और तब चेतना भी बिखरी–बिखरी सी हो जाती है और व्यक्तित्व खण्डित। चेतना में सहाचर्य नष्ट होने की अनेक मात्राएं हो सकती है, यदि कम मात्रा में हो तो कोई विशेष व्यवहार कोई विशेष मानसिक क्रिया सम्पूर्ण चेतना से वियोजित हो जाती है पर व्यक्तित्व के लिये गम्भीर समस्या नहीं उठती। पर यदि अधिक मात्रा में हो तो बहुव्यक्तित्व, खण्डित व्यक्तित्व आदि रोग हो जाते हैं।

"चेतना शब्द का उपयोग प्रायः उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक अर्थ में ही होता है, पर कभी–कभी इसका प्रयोग दार्शनिक अर्थ में भी हो सकता है। विज्ञानवादी

और प्रत्ययवादी दार्शनिक चेतना या विज्ञान को शाश्वत और एकमात्र सत्ता मानते है। इस अर्थ मे चेतना शब्द "आत्मा" का सामानार्थक हो जाता है – परन्तु साहि० मे और दर्शन मे भी इस अर्थ में प्रायः "चैतन्य" शब्द का उपयोग किया जाता है, "चेतना" शब्द असामान्य मनोवैज्ञानिक अर्थ में ही अधिक आता है।"१

जन चेतना के जब विविध पक्षों पर नजर डालते हैं तो आधुनिक युग मे मार्क्स द्वारा स्थापित सिद्धान्तों के तहत एक बडे आन्दोलनों का दौर दिखता है और यहीं से सही रूप में जन चेतना की अवधारणा रूपाकार होते दिखती है। इसी सन्दर्भ में हुई विभिन्न क्रान्तियों मे फ्रांसीसी क्रान्ति में किस तरह से किसान आन्दोलित हुआ।

फ्रांस की क्रान्ति में यदि किसी तीसरी सत्ता का योगदान था तो वह था कृषक समुदाय का जो सर्वाधिक सक्रिय रहा। फ्रांस मूलतः कृषि–प्रधान देश था, क्योंकि इसकी आबादी में नब्बे प्रतिशत किसान थे। उनकी संख्या २ करोड से दो अधिक थी, जिसमें करीब दस लाख कृषि–दास थे, जबकि शेष स्वतन्त्र थे। किन्तु जीवन यापन के लिये आय बहुत कम थी। उनके ऊपर समाज का कमरतोड बोझ था। तुरगत के आंकलन के अनुसार किसानों को अपनी आय का पचपन प्रतिशत राज्य को कर के रूप में देना पड़ता था। उन्हें पादरियों को टाइथ(धर्मशुल्क)और कुलीनों को अनेक कष्टप्रद सामन्ती शुल्कों का भुगतान करना पड़ता था। सड़कों और पुलों के इस्तेमाल के बदले किसान जागीरदारों को पथकर का भुगतान करते थे। जब कोई किसान अपनी जमीन बेचता था, तो उसे पिछले जागीरदार को एक शुल्क अदा करना पड़ता था। किसान अपनी शराब बनाने के लिये जागीरदार की

१– हिन्दी सा० कोष, भाग–। ज्ञान मण्डल वाराणसी – २४७

वाइन प्रेस और अनाज पीसने के लिये जागीरदार की मिल तथा ब्रेड बनाने के लिये उसके ओवन का इस्तेमाल करना पड़ता था। इन सेवाओं के लिये उसे हमेशा भुगतान करना पडता था। राजाचर्य और जागीरदार तथा नमक और उत्पाद शुल्क के रूप में किसान को जो कुल भुगतान करना पडता था, वह अक्सर उसकी आय का अस्सी प्रतिशत से भी अधिक हो जाता था, शेष बचे पांचवे हिस्से से उसे स्वयं का और अपने परिवार का भरण–पोषण करना पडता था।

इन स्थितियो का अवश्यंभावी परिणाम यह था कि किसान विस्फोट के लिये तैयार हो गये थे। ऐसे समय में यदि मौसम प्रतिकूल रहा तो किसान भुखमरी की कगार पर आ जाते थे। १६७८ में प्रतिकूल मौसम के कारण उपज अत्यन्त कम रही और उसके बाद बडी भीषण सर्दी पडी, जैसा कि फ्रांसीसी दरबार में रहने वाले एक विदेशी राजदूत ने लिखा है कि "आग के ठीक सामने भी पाइपों में पानी जम गया था।" इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उस वर्ष इन स्थितियो के कारण लाखों लोग भूख से पागल होकर भिखारी या लुटेरे बन गये। यही लोग दंगों और अन्य विध्वंसात्मक कार्यवाहियों के प्रति उद्धत होते जा रहे थे। इस परिस्थिति में उलझे किसान जो वाल्टेयर और रूषों के राजनीतिक सिद्धान्तो से अनभिज्ञ थे, महसूस कर रहे थे कि अब उन्हें सामन्ती शुल्क और राज्य की ज्यादतियों को दूर करना प्राथमिक आवश्यकता है।

अतः इतिहासकारों ने फ्रांसीसी क्रान्ति १७८६ को दलित, शोषित किसानों की क्रान्ति कहा जो उचित है। लुई १५वें के शासन को किसानों की ओर से जो धक्का दिया गया, वास्तव में वह फ्रांस की नब्बे प्रतिशत लोगों की प्रतिक्रिया थी। अंततः शासन को झुकना पडा और सत्ता का पुर्ननिर्माण हुआ तथा ध्वस्त हुआ।

यहीं से जन–चेतना का असली चेहरा पहचाना जा सकता है। मुक्तिबोध आदि कवियो ने अपने साहित्य से इसी जन–चेतना की बात उठायी है, और भारतीय सन्दर्भ मे दलितों और शोषित किसान, मजदूर वर्ग की हिमायत की है। प्रोफेसर गोटानो सालवेमिनी ने अपनी पुस्तक **"The French Revolution 1788-1792"** मे इस दयनीय स्थिति का वर्णन करने हुए लिखा– "वे जानवरो से भी बदतर जीवन जी रहे थे, किसान झोपडियों में रहते थे जिसमे खिडकिया नहीं थी और फर्श कच्चे थे। उनके भोजन में मांस और शराब दुलर्भ थे, और उनकी ब्रेड (घास) जो मक्का या चेस्टनट की बनी होती थी। गेहू का आटा त्योहार के दिनों या बीमारों के लिये रखा जाता था। अनेक लोगो को फर्नीचर और बिस्तर तक उपलब्ध नही थे। किसानो के पैरों में जूते भी नहीं होते थे, शिशु मृत्युदर काफी ऊंची थी और महामारियों का प्रकोप जारी रहता था। यदि किसी कारणवश आय कम होती तो उन्हे भुखमरी और मुसीबत का सामना करना पड़ता।" १

यह चेतना क्या है ? कैसे बनती है ? आदि महत्वपूर्ण सवाल हैं जिनसे गुजरते हुए ही जन चेतना की भी गहरायी से जांच–पड़ताल सम्भव लगती है। मारिस कार्नफोर्श का कहना है कि "जब कडीशन रिफ्लैक्स बनने की प्रक्रिया में उत्तेजना जो पशु में भी होती हैं, संकेतों का काम (सिगनल) करने लगती है तो जीव इन संकेतों को पहचानने लगता है और अपने व्यवहार को उन्हीं के मुताबिक ढाल लेता है, उस समय नाड़ियों के जाल में एक नया गुण पैदा होता है जिसे चेतना कहा जाता है।"

१– प्रो०गोटानों सालवेमिनी की पुस्तक"द फ्रेंच रिवोल्यूसन"१७८८–१७६२से उद्धृत

पदार्थ और चेतना के बारे मे विचार प्राचीन काल से ही होता आया है। चेतना को भारत मे पारलौकिक सत्ता जैसे आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर द्वारा नियमित या परिचालित माना जाता था। भारतीय वांड्मय मे दो परस्पर विरोधी जीवन दृष्टियां रही है एक दृष्टि भाव या ब्रह्म को प्रमुख सत्ता मानती रही और दूसरी पदार्थ और प्रकृति को। यजुर्वेद में सृष्टि की रचना "पहले से व्याप्त पदार्थ" से मानी गयी है जिसे "हिरण्यगर्भ" कहा गया –

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।

सदाधार प्रथिवी घमुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।[1]

छांदोग्य उपनिषद में मन को अन्नमय कहकर उसका सम्बन्ध पदार्थ से जोडा गया है – अन्नमयं हि सौम्य मनः ।

पाश्चात्य दर्शन मे भी सुकरात और प्लेटो ने क्रमशः अवधारणा और भाव **(Concept & Idea)** को ही आत्यांतिक सत्य के रूप में माना और चेतना को उसी भाव सत्ता का स्वरूप माना ।

पाश्चात्य दर्शन और भारतीय दर्शन में इन्हीं के केन्द्र मे और भी विचारधारायें चलती रहीं और भाववाद और भौतिकवाद का यह वैचारिक संघर्ष मार्क्सवाद के द्वान्दात्मक भौतिकवाद के रूप में प्रतिफलित हुआ जिसे व्यापक मान्यता मिली।

एगेल्स ने कहा– "यदि यह सवाल उठाया जाय कि विचार और चेतना क्या है और कहा से आते हैं तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि वे मनुष्य के

१– यजु, अ० १३१४

मस्तिष्क की उपज है और मनुष्य खुद प्रकृति की ऐसी उपज है जो परिवेश के साथ–साथ उसी परिवेश मे विकसित हुआ है।

मार्क्स ने भी कहा "भाव मानव मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित भौतिक जगत ही होता है और वही विचार में बदल जाता है। लेनिन ने इसी की पुष्टि करते हुए "प्रतिबिम्बित सिद्धान्त" द्वारा चेतना की रचना प्रक्रिया पर प्रकाश डाला– हमारी चेतना बाहरी जगत का बिम्ब है और यह बात साफ है कि बिम्ब अपने वस्तुगत आधार के बिना अस्तित्व नहीं रख सकता और वस्तुगत आधार बिम्ब वाले से अलग स्वतन्त्र होता है।"

इस विवेचना से हम कह सकते हैं कि चेतना बाह्य वातावरण या परिवेश के प्रति एक प्रतिक्रियात्मक प्रभाव परिणति है, और यह मनुष्य– जीव के मस्तिष्क में उत्पन्न होती है। इसके पहले एक अन्य गुण उत्तेज्यता की उपस्थिति सभी जीवों में स्वाभाविक और प्राकृतिक मौलिकता के रूप में सिद्ध हो चुकी है। सभी जीव आत्म रक्षार्थ या अस्तित्व के संकट में इसी योग्यता से उस स्थिति का सामना करते हैं —– "उत्तेज्यता वह गुण है जो सजीव को अजीव से अलग करता है और बाह्य प्रभावों से अपने को सुरक्षित रखने की योग्यता को दिखाता है। १

१– द्वन्दात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की सरल रूपरेखा, पृष्ठ – १३८
हिन्दी अनुवाद – बुद्धि प्रसाद भट्ट प्रगति प्रकाशन – १९७७

इस चिन्तन के अन्तर ने मनुष्य को विशेष शक्ति दी, जिससे वह अपने वाह्य को इच्छानुकूल बदलने के लिये सोंचने लगा, और इसके लिये प्रयत्न भी शुरू किया। जबकि पशुओं में सिर्फ बाह्य के अनुकूल ढल जाने की योग्यता ही महत्वपूर्ण बनी रही, अतः उसका कार्य–क्षेत्र सीमित ही रह गया। अज्ञेय ने इसी बात को ध्यान में रखते हुए मानव के महत्व को सर्वोपरि मानते हुए पशुओं में संघर्ष के अस्तित्व को ही नहीं माना। हालांकि यह मानव के महत्व को अतिरंजित रूप देने की आग्रही मानसिकता कही जा सकती है, क्योंकि संघर्ष का भले ही अल्पविकसित रूप ही हो परन्तु पशुओ में इसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस सन्दर्भ में अज्ञेय का वक्तव्य है –

"मनुष्य विकास–क्रम का चरम बिन्दु है – इतर प्राणी अपने को प्रकृति के अनुकूल बनाता है। इसी बात को दूसरी तरह कहकर उसके प्रासंगिक महत्व को तीव्र रूप में सामने लाया जा सकता है – इतर प्राणियों में संघर्ष नहीं होता, केवल मनुष्य मे संघर्ष होता है।[१]

इस विवेचन के बाद चेतना का स्वरूप काफी स्पष्ट हो जाता है। हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि चेतना एक विशिष्ट मानसिक गुण है जो निश्चय ही सजीव में अल्पविकसित या विकसित रूप में स्थित होती है और उन्हें एक निश्चित सक्रियता के लिये क्षमता देती है। अतः चेतना वह मानसिक विचार संवेग है जो विरोधी तत्वों के परस्पर उत्तेजनात्मक मौलिक प्रतिक्रियात्मक व्यवहार को नियंत्रित नियोजित और संयमित करते हुए उनमें किसी निश्चित सार्थक परिणाम,

---

१– आधुनिक हिन्दी साहित्य, स०ही० अज्ञेय, पृष्ठ–१४०

परिवर्तन और दिशा या लक्ष्य के प्रति सकल्पशील क्रियात्मकता उत्पन्न करके उन्हें सतत् प्रयत्न के लिये प्रेरित करता है। इस तरह चेतना एक विशिष्ट मानसिक विचार शक्ति या क्षमता है जो निरन्तर सार्थक प्रयत्न से निश्चित लक्ष्य या परिणाम के प्रति प्रेरणात्मक वातावरण मस्तिष्क मे बनाये रखती है, जिससे कि क्रियात्मकता को बल और दिशा प्राप्त होती है। यह क्रियात्मकता वस्तु, परिवेश, स्थिति, मूल्य आदि किन्हीं तत्वों के बीच उत्पन्न होकर उनमें एक विशेषत्व के प्रति आग्रह के कारण परिवर्तन की मूल इच्छा से प्रेरित होती है।

चेतना वस्तुतः एक मानसिक सवेग या प्रक्रिया है जो यथास्थिति के विरोध में बनती चली जाती है। परिवर्तन की इच्छा वह मूल तत्व है जिसके लिये यह उत्पन्न होती है। परन्तु एक ही समय में परिवर्तन की विभिन्न इच्छायें अलग–अलग व्यक्तियों में उभर सकती है। इन प्रतिक्रियाओं से किसी को लाभ हो, अथवा किसी को हानि हो अथवा कोई ऐसा भी हो जिसको न लाभ हो न हानि। यह वर्ग स्थिति निरपेक्ष कहा जायेगा क्योकि उसमें परिवर्तन के प्रति एक उदासीनता होगी। किन्तु पहला वर्ग जिसे लाभ होता है उस स्थिति को बनाये रखने का प्रयत्न करेगा, बल्कि संघर्ष करेगा। इस प्रकार परिवर्तनक` सन्दर्भ में समाज के तीन वर्ग आते हैं – यथास्थितिवादी उदासीन और परिवर्तनवादी। इनमें से बीच के वर्ग को छोड़कर शेष दो वर्गो में टकराव होता है। इस टकराव की व्यापकता और गहनता, उद्देश्य के अनुसार निश्चित होती है, और इसी से जन चेतना का स्वरूप भी निश्चित होता है।

इस तरह परिवर्तन के प्रति आत्मपरक प्रतिक्रिया से ही मानव की चेतना का स्वरूप आंका जा सकता है। कोई मानव किसी वस्तु स्थिति, मूल्य,

परिवर्तन, घटना के प्रति कैसा दृष्टिकोण अपनाता है, उसे ग्रहण करने में कैसी आत्मपरक प्रक्रिया से गुजरता है, यही वे बिन्दु हैं जिनसे उसकी चेतना के विस्तार, व्यापकत्व को प्राथमिक रूप मिलता है। निश्चय ही इस प्रक्रिया मे वाह्य वातावरण, परिवेश की वस्तुपरक मानसिकता की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, लेकिन यह प्राथमिक रूप में ही आवश्यक है जो एक आधार वस्तु का कार्य कर सके। कमला प्रसाद ने "साही की दृष्टि मे साहित्य" की भूमिका लेख में चेतना के विस्तार पर चर्चा करते हुए लिखा है – "यह गृहीता पर निर्भर करता है जिसका सम्बन्ध व्यक्तिगत चेतना से ब्रह्माण्ड व्यापी चेतना तक होता है कि उसकी चेतना कितनी वस्तुपरक हो पाती है। चेतना के अधिकतम् विस्तार की आत्मपरक प्रक्रिया ग्रहण में है, फैलाव के लिये उसका प्राथमिक रूप वस्तुपरक ही होता है।"१

चेतना से ही सामाजिक क्रिया कलाप और व्यवहार भी होते हैं। चेतना के द्वारा ही धर्म, दर्शन, कला और साहित्य भी रचे जाते हैं। स्व० गजानन माधव मुक्तिबोध ने चेतना के इस सामाजिक सम्बन्ध को गहराई से महसूस करते हुए इसी के आधार पर मानवीय सम्बन्धों को और उनके वैयक्तिक सामूहिक क्रिया–कलापों को व्याख्यापित किया है – "मानव चेतना, वस्तुतः मानव सम्बन्धो से निर्मित तथा उससे उद्‌गत चेतना है। ये मानव सम्बन्ध समाज के विकास के साथ परिवर्तित होते रहते हैं, तथा समाज की विशेष स्थितियों की उनमें विशेषताएं प्रकट होती रहती हैं। विशेषता संयुक्त ये मानव सम्बन्ध, मानव चेतना की मूलभूत नींव है। जिनके आधार पर कला, धर्म, दर्शन तथा साहित्य की सृष्टि होती है।"२

१– "साही की दृष्टि से साहित्य की भूमिका"–लेख–कमला प्रसाद "अभिप्राय" ६–१० संयुक्तांक।

२– मुक्तिबोध रचनावली भाग–पांच, पृष्ठ–२६

मनुष्यों के सामूहिक अस्तित्व या सामाजिक अस्तित्व को प्रमुखता देते हुए मार्क्स ने भी कहा है – "मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करता, बल्कि इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व ही उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"[१]

मुक्तिबोध के काव्य में प्रयुक्त जन अपने अस्तित्व और अधिकारों के लिये संघर्ष करता हुआ दिखाया गया है। इसी कारण उसमें चेतना भी दिखाई पडती है। क्योंकि जो सघर्षशील या गतिशील नहीं है उसमें चेतना का आरोपण सम्भव नहीं। मनुष्य के सामूहिक अस्तित्व या सामाजिक अस्तित्व को प्रमुखता देते हुए मार्क्स ने भी कहा –

"मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व ही उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"[२]

मुक्तिबोध के काव्य का जन मार्क्सवादी दर्शन से निष्पन्न हुआ है और मार्क्स ने ही समाज के शोषितों को लामबन्द किया था। आज मानव चेतना अपनी निजी इकाई की स्वतंत्रता का उद्घोष करते हुए अपने ही बनाये विधि, विधानो, धर्म प्रतीकों, ईश्वर आदि को नकारने की मुद्रा में आ गयी है। इसके पीछे उसकी मूल भावना है कि वह स्वयं सब कुछ है। व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा उसकी स्वतन्त्रता पहचान का प्रश्न सर्वप्रथम किर्कगार्द ने उठाया। उसने देखा कि जन के विरोध में सर्वत्र समूह, समाज, निराकार ईश्वर तथा संस्थाएं खड़ी हैं। जन की स्वतंत्र पहचान

१– कला साहित्य और संस्कृति, उद्धृत – ई०एम०एस० नम्बूदरीपाद, पृ०–६३

२– कला साहित्य और संस्कृति, उद्धृत – ई०एम०एस० नम्बूदरीपाद, पृ०–६३

और शक्ति कहीं भी नही रह गयी है। नीत्शे ने आक्रोश भरे स्वर मे कहा था कि– "ईश्वर मर गया है", हमने उसकी हत्या कर दी है। वही ब्रेष्ट ने कहा कि "मनुष्य मर गया मैं इसका साक्षी हूँ।" वहीं काफ्का ने मनुष्य की विवशता का अनुभव किया – "मेरे लिये एबसे निकटतम् सत्य यही है कि मैं एक ऐसी माल कोठरी की दीवारों से सिर टकराता रहता हूँ, जिसके न दरवाजे हैं, न खिड़कियां।"[1]

जन चेतना के भौतिक सम्बन्धों को लेकर सार्त्र ने अस्तित्ववाद की पूर्ण परिभाषा दी। सार्त्र के अनुसार अस्तित्व एबसर्ड है यह सारा ससार ही एबसर्ड है। यहां कोई निश्चित व्यवस्था या ईश्वरीय सिद्धान्त नही है। अतः व्यक्ति को आशा के साथ कर्म नहीं करना चाहिये। तर्क, गणित, दर्शन आदि के द्वारा परम् वास्तविकता को जानना अत्यन्त कठिन है। विश्व के अस्तित्व का कोई निश्चित आधार नहीं है। यह सब संयोग की बात है। व्यक्ति संयोगवश जन्म लेता है और इसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त करता है। मृत्यु व्यक्ति के अस्तित्व को समाप्त कर देती है।

मृत्यु की चिन्ता, जिसने मानव को चुनौती दे रखी है, इस अस्तित्ववाद की विचारधारा के पीछे छाया की तरह मंडराती रहती है। सार्त्र ने अपनी स्वतंत्रता की सीमा को स्वीकार करते हुए मृत्यु को भी अबूझ सीमा स्वीकार किया है। स्वतन्त्रता पर यह सीमा की स्वीकारोक्ति ही उन्हें अर्न्तविरोधी के दायरे में ला पटकती है —— चूंकि मनुष्य अपनी सभी स्थितियों के लिये स्वयं उत्तरदायी है, इसलिये अस्तित्व का मुख्य अर्थ है स्वतंत्रता। अर्थात मनुष्य मृत्यु पर्यन्त अपने

१– आधुनिक बोध और विद्रोह, डा० हरदयाल, उद्धृत, पृ०–११

को जो वह हो सकता है, बनाने का प्रयास करता है—— मैं मरने के लिये स्वतन्त्र नहीं हूँ, बल्कि एक स्वतंत्र व्यक्ति हूँ, जो मरता हूँ। मृत्यु मेरे लिये एक अबूझ सीमा है – जैसे दूसरों के अस्तित्व के कारण मेरी स्वतन्त्रता की भी एक सीमा बन जाती है।१

इस व्यक्तिवादी जीवन दर्शन के अर्न्तविरोध हालांकि स्पष्ट है लेकिन इसमें शक नहीं कि अस्तित्ववाद और सार्त्र ने विश्व भर में व्यापक प्रभाव डाला और हमेशा चर्चा के केन्द्र में रहे। साहित्य में विश्व भर के लेखकों ने व्यक्तित्व और व्यक्तिवादी पात्रों के सृजन से उनकी व्याख्याओं को स्वीकार किया है और एक नये साहित्य को विकसित किया जिसमें व्यक्ति की सत्ता को प्रमुखता मिली। इस तरह विचारधारात्मक जन चेतना का उत्कृष्ट उदाहरण अस्तित्ववाद और सार्त्र के चिन्तन में देखा जा सकता है। बाद में सार्त्र ने स्वयं अपनी सीमाओं को पहचाना और मार्क्सवाद को बीसवीं सदी का सर्वोत्कृष्ट जीवन दर्शन मानने से भी इंकार किया। डा० नामवर सिंह ने इसी तथ्य को अपने एक लेख में उद्घाटित किया –

"अपने अनुभव, कर्मो और लेखों के द्वारा सार्त्र ने यह दिखलाया और कहा भी है कि बीसवी सदी का कोई भी महत्वपूर्ण लेखक या बौद्धिक मार्क्सवाद से टकराये बिना अपनी सार्थकता प्रमाणित नहीं कर सकता। क्योंकि बीसवीं सदी की परिस्थितियों की सबसे बड़ी व्याख्या अगर कहीं सुलभ हो सकती है तो उनके अनुसार बीसवीं सदी का केवल एक ही दर्शन है और वह दर्शन है मार्क्सवाद, स्वयं अपने अस्तित्ववाद को उन्होंने दर्शन की संज्ञा नहीं दी, बल्कि एक आइडियोलाजी

१– सारिका, – स्मृति अंक – २६२, १६ मई १६८०, पृष्ठ–६

कहा, जो उस दर्शन के अंग के रूप में ही जीवित रह सकती है, अपना अस्तित्व प्रमाणित कर सकती है अपनी सार्थकता निर्धारित कर सकती है।

काव्य या साहित्य में जन चेतना के व्यापकत्व की चर्चा करते समय दो विचार प्रवृत्तियों से गुजरना होगा। प्रथम तो व्यक्ति अस्तित्व, स्वतंत्रता और विशिष्ट निजी इयत्ता के प्रति आग्रह भाव की स्थापना और दूसरा व्यक्तित्व के सामाजिक या सामूहिक हित को प्रमुखता देते हुए सामाजिक वाह्य परिवेश में सार्थक परिवर्तन के लिये व्यक्ति और परिवेश की सह अस्तित्वपूर्ण मान्यता के प्रति प्रतिबद्ध होना।

साहित्य में जन चेतना इन्ही दो मुद्दों पर हर समय विकसित होती रही है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हुआ है कि दर्शन, धर्म, साहित्य और कला आदि के मूल में मनुष्य का चिन्तन या विचार का सतत विकास रहा है। इसीलिये साहित्य और कला के साथ दर्शन, धर्म आदि के क्षेत्र में जन चेतना के वैचारिक पक्ष को निरन्तर हर युग, काल में विस्तार मिलता गया है। जन चेतना के इसी विस्तार के कारण ही इन सभी क्षेत्रों में नये वैचारिक परिवर्तन, मूल्य और सिद्धान्त जन्म लेते रहे हैं। भारतीय दर्शन में चावार्क का लोकायत दर्शन पुर्नजन्म और कर्मफल के सिद्धान्तों द्वारा अन्याय को सहने और यथास्थिति बनाये रखने के प्रयत्नों को उस युग (ईशा की तीसरी शदी) में सबसे बड़ी चुनौती थी। जब उसने यह कहा कि जब तक जियो सुख पूर्वक जियो, यदि आपके पास धन नहीं है तो दूसरों से ऋण लेकर भी मौज करना चाहिये तब प्रश्न नहीं है कि यह कितनी जिम्मेदार बात है, बल्कि इस विचार के पीछे जो नई मूल भावना भौतिक–सुख की थी वह महत्वपूर्ण है। यह उस सामाजिक व्यवस्था की तीव्र प्रतिक्रिया थी, जिसमें आत्मा, पुर्नजन्म,

ईश्वर–परलोक और इन पर आधारित पाप पुण्य का भय दिखाकर सुविधा प्राप्त वर्ग समाज के अधिसख्य लोगों को अभाव, दीनता, कष्ट, अन्याय को चुपचाप सहते चले जाने को प्रेरित किया जाता था। तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं की खिल्ली उड़ाते हुए चार्वाक का कहना था – वेदादि धूर्तो और स्वार्थियों की रचनाएं हैं जिन्होने लोगो से धन पाने के लिये ये सब्जबाग दिखाये हैं। यज्ञ में मारा हुआ पशु यदि स्वर्ग को जायेगा तो यजमान अपने पिता को ही उस यज्ञ में क्यों नहीं मारता।१

जन–चेतना के सन्दर्भ में पश्चिम की पृष्ठ भूमि अवश्य ही प्रमुख मानी जाती है। इसके पीछे वहां का वातावरण, परिस्थितियो और भोतिकवादी संस्कृति एव औद्योगीकरण है। पश्चिम में व्यक्ति सत्ता केन्द्रित एवं समाज केन्द्रित एव समाज केन्द्रित दोनो प्रकार के साहित्य वहां प्रचुर मात्रा में पाये जाते है। जिससे जन–चेतना के विस्तार को परिलक्षित किया जा सकता है। व्यक्ति की निजी सत्ता को सिद्ध करते हुए काफ्का, कामू, दोस्तोवस्की, अर्नेष्ट हेमिग्वे, सार्त्र, स्टीफन, ज्वीग आदि ने व्यक्ति की सत्ता को महत्व दिया और मानवीय अस्तित्व और उसकी चेतना को अपने साहित्य में रेखांकित किया। दूसरी धारा में टालस्टाय, गोर्की, मायाकोवस्फी, चेखब, आदि ने सामाजिक अस्तित्व के साथ व्यक्ति की इच्छा आकांक्षा को नित नये परिवर्तन के साथ बेहतर समाज और व्यक्ति को दिखाया। मानवीय विकास के क्रम में व्यक्ति अपनी समता, शोषण के खिलाफ सार्थक उद्देश्य के प्रति अग्रसर रहे, यही इस साहित्य से जन चेतना के सार्थक रूप को उजागर

१– डॉ० महीप सिंह का लेख "साहित्य और सामाजिक परिवर्तन" संघर्ष परिवर्तन और साहित्य – पुस्तक पृष्ठ – ४८

करता है। पश्चिम के व्यक्तिवादी साहित्य से भारतीय रचनाकार जैनेन्द्र, अज्ञेय, निर्मल वर्मा तथा कई अन्य भी प्रभावित रहे और ऐसा साहित्य दिया जिससे जन चेतना को बढावा मिला।

वर्तमान युग में जब धर्म हमारे जीवन का निर्णायक आधार नहीं रहा तो विज्ञान ने समस्त मानवता को अपने भौतिक सिकंजे में ले लिया और सामान्य आदमी भी अपनी भौतिक उन्नति के लिये मैदान मे आ गया। आज भौतिक प्रगति में सामान्य आदमी भी शामिल होकर नित नये नये परिवर्तनों की ओर बढ रहा है, यही सामान्य जन–चेतना की झलक है। आज के सामान्य जन की स्थिति आर्थिक आधारों पर विकसित हो रही है।

विज्ञान के बढते चरणों ने मनुष्य को व्यक्तिवादी बनाया, जिसके परिणाम व्यक्ति के सम्बन्धों में दरार, मैं की भावना एवं व्यक्तिवादिता हावी हो गयी। साथ ही आपसी विश्वास की कमी एवं प्रतिस्पर्धा अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी। इसी से व्यक्ति स्वय को पारिवारिक जीवन में समंजित करने में कठिनाई अनुभव करता है। "व्यक्तित्व का विघटन" नामक प्रसिद्ध निबन्ध में मैक्सिम गोर्की ने इसी बात को स्पष्ट किया है ——————" मैं की शक्ति का यह विकास निजी सम्पत्ति के विकास के साथ जुड़ा हुआ है जिसने लोगों में विग्रह पैदा किया उनके सम्बन्धों में कटुता पैदा की, तथा न सुलझ पाने वाले अन्र्तविरोधों को जन्म दिया। मनुष्य को गरीबी से बचने के लिये हर सम्भव प्रयत्न करना पड़ा। अपने व्यक्तिगत हितों की रक्षा के लिये व्यक्ति को अपने कबीले राज्य और समाज से हर सम्बन्ध तोड़ना पड़ा। आज व्यक्ति के लिये अपनी पार्टी तक के अनुशासन का पालन

कठिन हो गया है, यहां तक कि वह अपने परिवार से भी ऊब गया है।" १

आज इसी भौतिक प्रगति के कारण व्यक्ति अपने सामाजिक रूप को नष्ट कर चुका है, इसके बदले में उसे कुण्ठा, निराशा और अकेलापन मिला, जिसमें कहीं न कहीं से सीधा – साधा जीवन व्यतीत करने वाले सामान्य आदमी की चेतना ही परिलक्षित होती है। भारतीय सन्दर्भ में भी सामाजिक जीवन में जिस तरह की विसंगतियां उभरी हैं उससे सामाजिक ढांचा चरमराने लगा है। जिस धर्म ने यहां एक अच्छी सामाजिक व्यवस्था दी थी, अब उसकी रूढियों, भ्रष्ट परम्परायें तथा ऊंच–नीच का भाव, रूढ़िग्रस्तता, छुआ–छूत, जाति–वर्ग भेद ने अपने को अप्रासंगिक बना दिया है। और इसे घोर असन्तोष, विरोध और असहमति के भाव उभर रहे हैं यह सब सामाजिक चेतना के कारण परिवर्तन की इ[illegible] हो रहा है।

अब लोगों को पारलौकिकता के स्थान पर भौतिक सुख सुविधायें आकृष्ट करती हैं जिससे वह अपने को बदलते सामाजिक परिप्रेक्ष्य में बेहतर स्थिति में ला सके। वर्तमान भारतीय समाज में जो नित नये सामाजिक और राजनीति परिवर्तन दिखाई दे रहे हैं ये सब जन चेतना के ही प्रभाव तो हैं। अब सदियों से दलित–शोषित किसान, मजदूर एवं निर्धन तबका समाज एवं राजनीति में अपनी भागीदारी की तलाश कर रहा है। आज विज्ञान ने समस्त विश्व को संचार माध्यम, यातायात के आधुनिक साधनों से बहुत सीमित कर दिया है। जिससे विश्व जन मानस अपने को बहुत निकट महसूस करने लगा है। शोषण, भ्रष्टाचार, अन्याय, तानाशाही, अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तियों के प्रति

१– आन आर्ट एण्ड लिटरेचर, मैक्सिम गोर्की, पृष्ठ–७१, ई०एम०एस० नम्बूदरीपाद द्वारा "कला साहित्य और संस्कृति" में उद्धृत पृ०–२५

आज का मानव तीव्र प्रतिक्रिया करता है। समाजवाद, लोकतंत्र, अर्न्तराष्ट्रीय शान्ति प्रयासों के प्रति आज का जन मानस गम्भीरता पूर्वक सोचता है और दो विश्वयृद्धों की पुनरावृत्ति न हो, इसके सार्थक प्रयास में लगा रहता है। विश्व स्तर पर साम्राज्यवाद, रंगभेद की नीतियों के विरूद्ध व्यापक जन असंतोष दिखता है। द० अफ्रीका मे रग भेद नीति के खिलाफ जो विश्व के अन्य देशों द्वारा पाबन्दियां लगाई गई उनके पीछे जन चेतना ही छिपी है। क्योंकि अकेले नेल्सन मडेला के आन्दोलन करने से द० अफ्रीका की रंगभेद नीति समाप्त होना असम्भव था। यह सब राजनीतिक जन चेतना के वैश्विक रूप हैं। मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, गांधी आदि लोगों ने विश्व में राजनीतिक जन चेतना के व्यापक प्रसार में अग्रणी भूमिका निभाई है।

निष्कर्षतःजन चेतना का व्यापक क्षेत्र है। आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, कलात्मक क्षेत्रों में इसके व्यापकत्व को देखा जा सकता है। जन चेतना अपने रूप को नित नया बनाते हुए नये–नये रूपों मे समाज के सामने आ रही है। जन चेतना शोषण और अत्याचार को एक दिन खत्म कर देगी और एक स्वच्छ समाज का निर्माण होगा। जहां से समस्त अमानवीय पहलू गायब होंगे। इस तरह जन चेतना ऐसी अनिवार्य स्थिति विकसित करती है, जो प्राच्य और पाश्चात्य शैलियों को सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में प्रगतिशील जीवादृष्टि को स्थायित्व मिलता है।

साहित्य में जन चेतना की अवधारणा

साहित्य में जन चेतना की स्थिति के सन्दर्भ में साहित्य के "विशिष्ट" स्वरूप के आन्तरिक और मानव चेतना और उसकी ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया के विविध सोपानों में निरन्तर विकासमान दृष्टियों, प्राकृतिक आवश्यकताओं के दबावों के सामान्य वाह्य पक्ष को अलग–अलग और संश्लिष्ट रूप में समझना होगा। साहित्य का अपना निजी विशिष्ट स्वरूप है जिसको नकारा नहीं जा सकता लेकिन जीवन की वाह्य सामान्यताओ का उस पर निरन्तर दबाव पडता रहता है जिससे उसके "विशिष्ट" स्वरूप में हेर–फेर होता रहता है। इतना तय है कि साहित्य की यह निजी प्रकृति, अपनी विशिष्टता को बनाये रखते हुए, तमाम युगीन सामान्यताओं को भी महत्व देकर ही श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण बना रह सकता है। साहित्य निरपेक्ष नहीं चल सकता। उसे वाह्य समाज, प्रकृति के परिवर्तनों से भी प्रभाव ग्रहण करना पड सकता है क्योंकि मूलतः और अन्ततः वह मानवीय अभिप्रायों में ही सार्थकता प्राप्त करता है। गजानन माधव मुक्ति बोध ने इसी सन्दर्भ्ज्ञ में लिखा है–

"जो लोग साहित्य के केवल सौन्दर्यात्मक मनोवैज्ञानिक पक्ष को चरम मानकर चलते हैं, वे समूची मानव सत्ता के प्रति दिलचस्पी न रख सकने के अपराधी तो हैं ही, साहित्य के मूलमूत तत्व, उनके मानवीय अभिप्राय तथा मानव विकास में उनके ऐतिहासिक योगदान, अर्थात दूसरे शब्दों में, साहित्य के स्वरूप का विश्लेषण तथा मूल्यांकन न कर पाने के भी अपराधी हैं। साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव–सत्ता का अध्ययन है।"[१]

१– मु०रच०, भाग–५, पृ०–४४

साहित्य में जन चेतना इन्हीं दो पक्षो को लेकर चली है। साहित्य का मौलिक ओज रूप निश्चित रूप से हल्के ढंग की सासारिक हलचल का चित्रण करने वाला होगा, जिसमें मानव अपने आस–पास के वातावरण के आधार को लेता हुआ भी उसके परे एक काल्पनिक मनोरंजन की निजी सर्जना का आनन्द ले सके, दे सके। इस मूल–प्रवृत्ति ने साहित्य को वर्णन, चमत्कार, रहस्योचित आदि की उलझनो में इस तरह उलझाए रखा कि यही उसकी छवि बनती गयी और वर्णन कौशल ही साहित्य की प्रकृति लगने लगी। परन्तु इन्हीं वर्णनों की अतिरेकता में ही वाह्य परिवेश का क्षीण आभासी स्वरूप साहित्य का महत्वपूर्ण वाह्य सामाजिक पक्ष बना। यह दूसरा पक्ष साहित्य के मूल रागात्मक, मनोरंजक सौन्दर्यात्मक पक्ष से अलग अपनी मानवीयता की प्रगतिकामी दृष्टि से लैस होने के कारण निरन्तर श्रेयस्कर बनता गया। साहित्य में ये दोनो पक्ष विरोधी स्थितियों और मानसिकता के प्रतीक बनकर साहित्य में आन्तरिक संघर्ष को बढाने में सहायक बने। आदि मानव ने जब गुफाओं में चित्र, रेखा, बिन्दु आदि के अंकन द्वारा अपनी सौन्दर्य अभिरूचि की अभिव्यक्ति की होगी तब से ही जाने–अनजाने आत्मबद्ध सौन्दर्य के साथ–साथ सामाजिक सम्बन्धों की क्षीण, आभासी, अस्पष्ट दृष्टि एक साथ ही विकसित होती रही है। इस तरह कला और साहित्य प्रारम्भ से ही दोहरी भूमिका निभा रहे हैं। बोरिस सुखोव ने "हिस्ट्री आफ रियलिज्म" में इसी सन्दर्भ में लिखा है –

"प्रारम्भ से ही जब से साहित्य या कला की उत्पत्ति हुई वह अपनी दुहरी भूमिका का निर्वाह करती रही है, अर्थात वह मनुष्य के संज्ञान का और उसकी सौन्दर्य शास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति का, दोनों का माध्यम रही है औरउसकी ये दोनो भूमिकाएं प्रारम्भ से ही एकीकृत और अविच्छेद्य रही है।"१

१– हिस्ट्री आफ रियलिज्म, बोरिस सुखोव, पृ०–८, उद्धृत यथार्थवाद, डा० शिव कुमार मिश्र, पृ०–२०

साहित्य में ये दो तरह की प्रवृत्तियां एक साथ सक्रिय रही हैं और यह स्वाभाविक रूप से उसकी मूल प्रकृति कही जा सकती है। युग और समाज के विकास के साथ–साथ इनमें तदनुरूप सार्थक परिवर्तन हो सकते हैं, लेकिन इनका मूल पूर्णतः परिवर्तित नहीं किया जा सकता। वास्तव में सौंदर्यबोध तथा अन्तः प्रवृत्तियों में परिवर्तन इतना धीमा होता है कि इसका आभास देर में होता है। इसलिये लगभग इसे एक विशिष्ट, स्थायी स्वरूप दे दिया जाता है लेकिन इनमें क्रमशः युगानुरूप विकास होता जाता है और वाह्य परिस्थितियॉ ही इनमें संशोधन परिष्करण करती रहती हैं। डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने "सौन्दर्य शास्त्र की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हुए इसी सन्दर्भ मे लिखा है –

"समाज बनने के पूर्व शताब्दियो के दौरान प्राकृतिक समझे जाने वाले "सौन्दर्य बोध" का भी विकास हुआ है। इस अर्थ में "अन्तःप्रवृत्ति" भी स्थायी प्रवृत्ति नहीं है, उसमें बराबर परिवर्तन हो रहा है, किन्तु अन्तःप्रवृत्ति का यह परिवर्तन इतना धीमा है कि उसे शताब्दियो के बाद जान पाते हैं। क्योंकि अन्तःप्रवृत्ति में परिवर्तन अत्यधिक शनैःशनैः होता है। अतः उसे प्रकृति प्रदत्त या स्थायी तत्व मान लिया जाता है। इस दूसरे अर्थ ने ही भारतीय काव्यशास्त्र रति, क्रोध, भय, जुगुप्सा, आश्चर्य, उत्साह ह्रास और ईर्ष्या आदि को "स्थायी भाव" कहता है। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी इन्हें स्थायी माना गया है, इसी उक्त द्वितीय अर्थ में। किन्तु जन्तु विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि अन्तः प्रवृत्तियां स्थायी तत्व नहीं है। वाह्य परिस्थितियों में आमूल चूल परिवर्तन हो जाने पर अन्तः प्रवृत्तियों में भी आमूल–चूल परिवर्तन हो सकता है।"

जलते और उबले प्रश्न – डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय पृ० ४६–४७

<u>भारतीय सन्दर्भ :–</u>

प्रारम्भ से ही भारतीय साहित्य "स्थायी भाव" की व्यजनाओं तथा सौन्दर्य की सृष्टि को महत्वपूर्ण मानता आया है, क्योंकि यहां के कवि ऋषि मनीषी सार्वकालिक या सार्वभौमिक तत्वों की अभिव्यक्ति को ही स्थायी मानते थे। वाह्य परिस्थितियां निरन्तर परिवर्तनशील हैं जिससे इनका संस्पर्श उनके साहित्य में पृष्ठभूमि की अनिवार्य विवशता का गौण रूप ही प्रकट करता है। ऐसे सारे अस्थायी तत्व जिनसे जन चेतना का तात्कालिक और समसामयिक स्वरूप झलक सकता था उनके लिये प्रयोजनहीन और निरर्थक था, फिर भी वैदिक साहित्य में आर्य–दस्यु की टकराहट मिलती है। स्वयं आर्यो के कबीलों में शासक–शासित, पुरोहित शासक आदि के बीच टकराहट मिलती है परन्तु आर्यो के आशा, उत्साह, प्रकृति प्रेम और जिजीविषा के चित्रण इतने आकर्षक हैं कि यही रूप प्रिय और ग्राह्य बनकर हमें आज भी मुग्ध कर लेता है। क्योंकि ये तत्व "स्थायी" और सार्वकालिक है। उत्तर वैदिक काल में राम–रावण के युद्ध में वानर, कोल, भील आदि का राम की सेना में शामिल होना जन चेतना की वास्तविकता को पाप–पुण्य की परिधि में लाकर एक शाश्वत संघर्ष का रूप दिया गया। यह साहित्य आज भी इसी कारण महत्वपूर्ण और प्रभावी स्वरूप बनाये हुए है कि इसमें मानवीय भावों के स्थायी तत्वों की सबलता प्रदर्शित है – अन्ततः महान मूल्यों की विजय होती है। इसमें सवाल महत्व का ही प्रमुख है कि किस समय किस तत्व को वरीयता दी जाती है इससे ही उस समय और समाज की श्रेष्ठता अथवा पिछड़ापन स्पष्ट होता है।

साहित्य और कला की चर्चा में ई० एन० एस० नम्बूदरीपाद कहते हैं "सौन्दर्यबोध में परिष्कार तभी सम्भव हुआ जब मानव समाज की उत्पादन क्षमता इस हद तक विकसित हो गयी कि समाज में बौद्धिक अथवा आत्मिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच एक विभाजन हो गया और जब मनुष्यों का एक छोटा सा समूह कला और अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों मे अपना सारा समय लगाने लगा।"१

ब्राह्मण ऐसा ही समूह या वर्ग कहा जा सकता है। इन्हीं के द्वारा संस्कृत साहित्य की रचना की गयी है। वाल्मीकि, कालिदास, माघ, भारवि, श्री हर्ष आदि महाकवियों ने उच्चवर्गीय ब्राह्मण दर्शन के वृत्त में ही अपनी रचनाएं की हैं। इस ब्राह्मण दर्शन ने ही "शूद्र" वर्ग जो सेवक, कृषि कार्य करने वाला दास आदि की भूमिका निभाता था का निर्माण किया। अपने साहित्य में जिसमें " ब्राह्मण, ईश्वर, वेद, स्मृतियों, राजा आदि के प्रति श्रद्धा, समाज की यथास्थिति में अपरिवर्तन की भावना की सृष्टि ही इस साहित्य का लक्ष्य है किन्तु इस "वर्ग स्वार्थ" के साथ–साथ महाकवियों को मानव मात्र की संवेदना और भावनाओं से प्यार भी कम नही है, इसीलिये "अभिज्ञान शाकुन्तल" में रमणीय श्रृंगार,"वेणी संहार"में वीरता और दर्प, नागानन्द, में करूणा और भूत दया, "शिशुपाल वध" में अत्याचार का विरोध और वीरत्व और "मेघदूत" में देश की प्राकृतिक सुषमा में सभी मनुष्य आज भी आनन्द ले सकते हैं।" कर्मवाद पुनर्जन्मवाद का प्रचार किया।"२ व्यक्ति की स्थिति

१– कला साहित्य और संस्कृति, ई०एम०एस० नम्बूदरीपाद, पृ०–४६

२– जलते और उबलते प्रश्न, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ०–८४

निश्चित और अपरिवर्तित बनाये रखकर समाज को यथास्थिति के प्रति रूढ़िबद्ध किया। ऐसी स्थिति में जनजागृतिकारी चेष्टाओं को भले ही बल नहीं मिला परन्तु उन्होंने अपना अलक्षित और आभासी स्वरूप बनाये रखा। विश्वामित्र का ब्राह्मण वर्ग में अनधिकृत सैद्धाान्तिक प्रवेश, एकलव्य का धनुर्विद्या में कुलीन राजकुमारों जैसी दक्षता प्राप्त करने के प्रयास या शम्बूक का शूद्र होकर तपस्यारत होना आदि वर्ग गत जातिगत प्रयासों को साहित्य में हालाकि महत्वपूर्ण प्रकरण करके नहीं रखा गया फिर भी ये सूत्र ऐसे है जिनसे जन चेतना की प्रवृत्तियों का थोडा ही सही परिचय तो मिलता है।

साहित्य में दार्शनिक निष्पत्तियॉ तत्कालीन समाज को एक निश्चित और सीमित दायरे मे जकडे हुए थी। वैचारिक स्तर पर नवीनता का अभाव और व्यावहारिक जीवन पद्धति का प्रचार ही इस साहित्य द्वारा सम्भव था। प्रतिक्रिया स्वरूप स्वाभाविक था कि कोई नवीन जीवन पद्धति सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो स्तरों में सामंजस्य बनाते हुए उभरती। चार्वाक का लोकायत दर्शन तत्कालीन प्रतिक्रिया का अनोखा उदाहरण कहा जा सकता है। वैदिक विचारधारा के विरोध में उपजी विचारधारा सहज, व्यावहारिक और सच्ची अनुभूति पर आधारित थी, जिसके कारण सामान्य जन का समर्थन मिला।

चूंकि यह दर्शन ब्राह्मणों के आडम्बरों को वास्तविक जीवन की कसौटी पर नकारता था। अतः पुरोहितों ने इसके साहित्य को नष्ट कर दिया। पं० जवाहर लाल नेहरू ने "भारत की खोज" में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है– "संभवतः भारत में भौतिकवाद पर अधिकांश साहित्य को बाद के काल में

पुरोहितों ने तथा रूढिवादी धर्म में यकीन करने वाले दूसरे लोगो ने नष्ट कर दिया था।"१

चार्वाक दर्शन के अवशेष सूत्रों के आधार पर ही उस विचारधारा पर बहस चला सकते हैं कि वर्तमान समय मे कितनी ग्राह्य और यथार्थ परक है। चार्वाक की दृष्टि में सारे कर्मकाण्ड बुद्धिभ्रष्ट एवं पुरूषार्थहीन लोगों की जीविका के साधन हैं:-

अग्नि होत्रं त्रयो वेदोऽिम दंडं भस्म गुण्ठनम् ।

प्रज्ञापौरूषहीनानां जीविकेत बृहस्पतिः ।।,२

चार्वाक का अति प्रसिद्ध सूत्र है जो शरीर की महत्ता के साथ-साथ पुर्नजन्म का भी खण्डन करता है। वास्तव में यह सूत्र उनके दर्शन का अति महत्वपूर्ण सूत्रहै और इसी आधार पर उनको भौतिकवादी कहकर व्याज्य कहा जाता रहा है -

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वाधृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ।।

यहीं पर उनके मानवीय अभिप्रायों की परख होती है। यह वह पड़ाव है जहां चार्वाक वर्तमान युग की यथार्थपरक भावभूमि पर खड़ा दिखाई पडता है। तत्कालीन परिस्थितियों में यह एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना मानी जानी चाहिये। जिसने तत्कालीन स्थिर और जड़ होती जा रही मानवीय प्रवृत्तियों को यथार्थपरक धरातल प्रदान कर उसे प्रगतिशील चेतना से समृद्ध किया। उन्होंने मृत प्राय मानवीय इच्छा आकांक्षाओं को लौकिक धरातल प्रदान किया तथा अलौकिकता के

१- भारत की खोज, पं० जवाहर लाल नेहरू, पृ०-८६

२- चार्वाक दर्शन-जनवर आगेमान, उद्धृत, आजकल, मई १६८५, पृ० २६,

भ्रम जाल को तोड़ा। यहीं से बुद्ध, कबीर आदि को पृष्ठ भूमि मिली। अनवर आगेवान ने चार्वाक दर्शन पर अपने लेख में इसी तथ्य को उजागर किया है –

"चार्वाक मत ने अनावश्यक रहस्यवादिता, व्यर्थ कर्मकाण्ड रूढिगत अध विश्वासों और मान्यताओं की अयथार्थता का खण्डन किया और परलोक में नहीं, इस लोक में ही सतर्कता रखने की जो प्रेरणा दी उसका ऋण मानव जाति को स्वीकारना ही पडेगा। इस तरह विशुद्ध चार्वाक–दर्शन मानवीय विचारों का प्रथम वास्तविक संलग्न है।"१

भारतीय सन्दर्भो में वैचारिक भिन्नता की स्पष्ट अभिव्यक्ति चार्वाक दर्शन से मानी जाती है। वस्तुततः इसके पूर्व वेद, जिसे ईश्वरीय सत्ता माना जाता रहा है, अपने अन्तर में एकता का सूत्र लिये था भले ही यत्र–तत्र उसमें वाह्य परिवेश की यथार्थता कहीं–कहीं परिलक्षित हो जाती है। किसी भी परिवर्तनकामी दृष्टि को पारलौकिता के हथियार से दबा दिया जाता है। इसी की आड़ में ब्राह्मण वर्ग की स्वेच्छाचारिता ने वर्ग, जातिगत रूढ़ियॉ निर्मित की और जिस परंपरावादी विशिष्ट साहित्य का निर्माण किया उसके विरोध मे जिसने भी सिर उठाया उसको इसी अस्त्र से भोंथरा बना दिया। भगवान बुद्ध ने इसी परम्परागत चिंतन को नकारते हुए ही बौद्ध धर्म की स्थापना की। इसकी सफलता या असफलता अलग विचारणीय बिन्दु है, परन्तु तत्कालीन चिंतन दृष्टि की रूढ़िवादी और परम्परागत सोंच को फैलने का माहौल तो अवश्य ही निर्मित किया। इससे भविष्य की विचारधाराएं प्रभावित हुई यह निश्चित है। सास्कृतिक हलचल और साहित्य पर विचार करते हुए तारकनाथवाली ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है –

१– चार्वाक दर्शन, अनवर आगेमान, आजकल, उद्धृत, मई १९८५, पृ० २७

"बौद्ध; धर्म का पूर्ण विश्वास मानवीय तर्क पर था। वे वेदो पर विश्वास नहीं करते थे और इनसे पूर्व वैदिक धारा में दिव्य ज्ञान, ईश्वर दत्त ज्ञान पर ही लोगों का विश्वास था। तो यह एक बड़ी भारी भिन्नता थी जो बौद्ध धर्म में लक्षित हुई। स्पष्टतः अगर आस्तिक और नास्तिक बौद्धों को पराजित करना चाहते थे तो उन्हें किसी न किसी रूप में तर्क की महिमा को स्वीकार करना ही था क्योंकि बौद्धो ने जो तर्क की महिमा का, प्रज्ञा की महानता का साक्षात्कार किया उसने जनता को प्रभावित किया।"१

तार्किकता एव विचार भिन्नता का यह धरातल वास्तविकता का था जहॉ कल्पना का निधेष था। अतः ऐसे किसी भी दर्शन का लम्बे समय तक टिका रह पाना कठिन होता है क्योकि भारतीय परिस्थितियां ऐसे किसी भी दर्शन को (अपने से अलग चलने वाले को) विचारधारा चलाने की स्वतंत्रता एक निश्चित दायरे में ही देती है। इसीलिये बौद्ध दर्शन समाज से धीरे–धीरे विलुप्त होने लगा।

मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन में निर्गुण सगुण भक्ति धाराएं निम्न उच्च वर्गीय विशिष्ट अभिव्यक्तियां कहीं जा सकती जहॉ फिर एक बार निम्न वर्ग के कवियों कबीर, रैदास, नाभा, सिंपी, सेना, नाई आदि ने जातिगत और वर्गगत धार्मिक कट्टरता के विरोध में अपनी आवाज उठायी थी। इनकी आवाज में वह असर था कि एक बार तो समूची युग चेतना ही जागृत हो गयी थी परन्तु फिर वही हुआ। बात तो अच्छी लगी लेकिन व्यवहार की प्रक्रिया में आने से पहले ही उसे सीमित दायरे में रखकर सोचा जाने लगा। वह "धर्म" का रूप न धारण कर सका जिसे धारण किया जा सके। यहां धर्म, दर्शन और साहित्य का एक संश्लिष्ट स्वरूप ही

१– सांस्कृतिक परम्परा और साहित्य, तारकनाथ बाली, पृ० – ११४

चलता आया है और ज्यादातर उच्चवर्गीय मानसिकता का दर्शन ही धर्म और साहित्य का स्वरूप प्राप्त कर पाता है। इसीलिये कबीर आज भी अधिक आधुनिक और विद्रोही तो स्वीकार किये जाते है परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में तुलसी की अपेक्षा कम ग्राह्य और मान्य रहे है। प्रसिद्ध कवि और समीक्षक चिन्तक विजय देव नारायण साही ने इसी सन्दर्भ में बहस चलानी चाही थी कि "जाति प्रथागत गैर बराबरी की चेतना का इतनी दृढता से प्रारम्भ होने के बावजूद भी क्या कारण है कि असहमति, विरोध या इसे जो भी नाम आप दें, किन्हीं निश्चित परिणामों कि दिशा में हमे नही ले जा सका – चाहे वह भक्ति आन्दोलन में हो या अन्य आन्दोलनों में।[1]

इस तरह हम देखते है कि भारत मे मनुस्मृति से लेकर रामचरित मानस तक समाज को एक विधि विधान में बांध कर चलाये जाने का प्रयास होता रहा है। जब समाज में उथल–पुथल हुई तो व्यवस्था को और तरीके से सुदृढ़ किया गया और यथास्थिति को बनाये रखने का प्रयास किया गया। भारत में जाति विभाजन के सन्दर्भ में भारतीय समाज के विकास को विश्लेषित करने के साथ साहित्य में जातीय स्वरूप की परिवर्तनकामी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का ऐतिहासिक महत्व कबीर आदि के साथ सिद्ध होता है। जब समाज का वाह्य स्वरूप ही चुनौतियों से भरा हो तो किसी भी प्रगतिकामी व्यक्तित्व का उससे उलझ जाना साहसिक होते हुए भी स्वाभाविक कहा जायेगा। वाह्य यथार्थ से कतरा कर चलने वाली साहित्यिक प्रवृत्ति भी रही है जिसे हर युग में देखा जा सकता है। रीतिकालीन अधिकांश साहित्य इसी श्रेणी में आता है । रीतिकालीन अन्योक्तिपरक

१– भारतीय काव्य परम्परा में दलितों का योगदान" विजय देवनारायण साही –
अभिप्राय – ६–१० साही विशेषांक – पृ० – २०

साहित्य भी तत्कालीन अतिश्योक्तिपूर्ण रचना प्रवृत्ति के विरूद्ध नई चेतना की छटपटाहट है। सामंती सिकंजे में चाटुकारिता के जाल को तोड़ने के लिये यह प्रयास भी एक तरह की जन चेतना ही है। डा० राजेन्द्र कुमार ने इसी सन्दर्भ में पहल की है। –– "यदि इस बात पर गम्भीरता से विचार किया जाय कि तमाम अतिशयोक्ति परक साहित्य के बीच–बीच अन्योक्तिपरक साहित्य के आने का कारण क्या है, तो हम पाएंगे कि रचना के स्तर पर अपने युग की सीमाओं के संघर्ष की किन्हीं दिशाओ से जुडने की ही चेष्टा का परिणाम है। यह अतिशयोक्ति से अन्योक्ति पर आना महज एक अलंकार से दूसरे अलकार पर आना नहीं है, बल्कि प्रभु वर्ग की संस्कृति की टक्कर में जन संस्कृति के प्रति सकारात्मक रूख बनाने की तैयारी के लिये किया गया संघर्ष है।"१

तात्पर्य यह है कि जब प्रभु वर्ग की संस्कृति मे केवल श्रृंगार की प्रवृत्तियां ही प्रमुख थीं, साहित्य नीति परक सूक्तियों और अन्योक्तियों के माध्यम से उपयोगिता परक उद्‌देश्य को बनाए रखकर अपनी रस माधुर्य की संकीर्णता के परे भी अपना महत्व प्रदर्शित करता है। यही कारण है कि देव की अपेक्षा बिहार के अधिक प्रतिष्ठित हैं तो इसके पीछे बिहारी की समन्वित मूल्यों वाली साहित्य – चिंताधारा ही है जहां श्रृंगार रस की फेनिलता के साथ–साथ लौकिक अहसासों की शान्त गम्भीर प्रतिक्रियात्मक दृष्टि भी रही है। कबीर "घर की चकिया" न पूजे जाने का कटु व्यंग करते हैं तो भी वही लौकिक अर्न्तदृष्टि अपनी सार्थकता को अभिव्यक्त करने की कोशिश में होती है। इस तरह का "विचार" जब भी साहित्य में आता है तब वहॉं परम्परित रूढ दृष्टि के विरूद्ध चेतना ही कार्य कर रही होती

१– अभिप्राय, डा० राजेन्द्र कुमार

है जो दृष्टि परिवर्तन के लिये ही सक्रिय होती है और निश्चय ही इसके पीछे अपनी सार्थकता, उपयोगिता, मूल्यवत्ता सिद्ध करना ही होता है।

<u>पाश्चात्य सन्दर्भ :–</u>

भारत की तरह पश्चिमी जगत में भी धर्म, दर्शन और साहित्य पर प्रारम्भ में शासन करता था। देखा जाय तो चर्च और पदरियों ने पूरी समाज व्यवस्था को अपने चंगुल में जकड रखा था। उस समय साहित्य में भी बाइबिल की शिक्षाएं ही विभिन्न तरीकों से हावी थी। मध्ययुगीन यूरोप में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों पर पोप का सार्वभौम अधिकार था। परन्तु धीरे–धीरे लोग इस बन्धन को तोड़ने के लिये कसमसाने लगे, समय की परिस्थिति को देखते हुए इन धर्म गुरूओं ने तर्क द्वारा अपने आदेशों को सत्य सिद्ध करना शुरू किया, जिससे जनता में बुद्धिवाद, स्वातन्त्रयवाद का प्रबल आवेग बढा उसी समय रोजर, बेकन, कापरनिकस, गैलीलियों आदि भौतिक वैज्ञानिको की मान्यताओं ने भी धार्मिक मान्यताओ की जडे हिला दीं। पारलौकिकता से भौतिकता की ओर जो रूझान आया उसने सम्पूर्ण यूरोप को सांस्कृतिक पुर्नजागरण की ओर उन्मुख किया। सन् १४९८ में वास्कोडिगामा द्वारा यूरोप से हिन्दुस्तान आने के समुद्र पथ की खोज से यूरोपी व्यापारी जहाजों में लदकर पूर्व के माल के साथ–साथ विचार भी यूरोप मे जाने लगे। इटली में यह जागरण साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक हुआ, किन्तु जर्मनी में यह धर्म सुधार का रूप लिया। इस तरह व्यक्ति, समाज को उसके वस्तुगत रूप में देखने उसका अध्ययन तथा जटिल होते जा रहे चरित्रों के विश्लेषण करने की शुरूवात सर्वप्रथम बेकन ने की। युग के उभरते हुए अन्तर्विरोधों, विसंगतियों के प्रभाव से वाह्य और आन्तरिक जीवन पर पडने वाले

प्रभावों और चेतना के चित्रण की उन्मुक्तता बेकन के सुस्पष्ट दार्शनिक आधारों के कारण ही आई। मानवीय अस्तित्व की जो चिन्ता, धर्मशास्त्रों के वितंडावाद के परे आकर बेकन ने शुरू की उससे साहित्य में नये प्रकार का लौकिक रूझान आया और परिवर्तन की इस ऑधी ने पुरानी परम्परित रूढियों को उखाड फेंका। यही कारण है कि बेकन के समकालीन शेक्सपियर, सैबेलेज, सरवेंतीज आदि प्रधान लेखकों में चरित्र विश्लेषण, युग विश्लेषण का अच्छा उदाहरण देखने को मिलता है। शेक्सपियर के नाटको में धार्मिक उलझनो की जो झलक मिलती है और पात्र जिस ट्रेजडी मे फंसे होते हैं तथा पाठक को बेचैन करती है ये ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य है जो पाठक को युग के अंध जकड़न से निकालकर कटु यथार्थ की कसौटी पर कस कर उसके प्रति सचेष्ट विश्लेषण प्रवृत्ति जगाती है। शेक्सपियर के नाटको में जो परम्परागत जकडन है उससे निकल कर उनके पात्र युगीन बोध की अभिव्यक्ति करते हैं जो काबिले तारीफ एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण भी है। बेकन के महान योगदान की चर्चा अलेक्जेंडर हजर्न ने भी की है – "बेकन का प्रभाव प्रचंड था—— बेकन ने अंध सूत्रवाद की जडे हिला दीं। पुराने अधिभूतवाद के लिये अब इज्जत के साथ सिर उठाना सम्भव न रहा। बेकन के बाद हर कहीं ज्ञान के सभी क्षेत्रो में वितंडावादियों के इंद्रियबोधातीत सिद्धान्तों के विरूद्ध प्रतिक्रिया की बाढ़ सी उमड पड़ी।"१

बेकन के कार्य को आगे बढ़ाया रेने देकार्त के बुद्धिवाद और संदेह पद्धति के दार्शनिक सिद्धान्तों ने साहित्य में भी बुद्धिवाद और संदेह पद्धति ने अपना

१– दर्शन साहित्य और आलोचना, अले० हर्जन, अनु० नरोत्तम नागर
उद्धृत – यथार्थवाद, डा० शिव कुमार मिश्र, पृ० – २२

प्रभाव डाला और वास्तविकता की प्रतिष्ठा हुई काल्पनिक विश्वासों को संदेह पद्धति ने आडे हाथो लिया। सन् १७८६ की फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के स्वतत्रता, समानता, और बन्धुत्व जैसे नारे और प्रजातंत्र जैसी आदर्श शासन व्यवस्था ने साहित्य में एक नई स्वच्छंदतावादी चेतना को विकसित किया। इस काल का प्रत्येक कवि प्रकृति के प्रति विशेष अनुरक्ति रखता था। यद्यपि यह धारा लगभग आधी शती तक छायी रही परन्तु अपने अर्न्तविरोधो के साथ। कालारिज, वर्ड्सवर्थ, शेली आदि कवियों ने वास्तविक चितन के भौतिक धरातल को भी समानांतर रूप से अपने साहित्य में स्थान दिया। अन्ततः यह प्रवृत्ति अपने मूल उद्देश्य से भटक कर मानवीय जीवन से लगभग कट गयी। रूषों ने एक स्वतंत्र प्राकृतिक मनुष्य का आदर्श प्रस्तुत किया। लेकिन सामंती समाज की स्थापित व्यवस्था की विसंगतियो में यह आदर्श भी मात्र हवाई सिद्ध हुआ। साहित्य में मानवीय न्याय का संघर्ष इस समय भी आन्तरिक स्तर पर चला —— "पूंजीवादी समाज व्यवस्था की नींव डालते हुए इस बुर्जुआ वर्ग ने जिन आदर्शो का उद्घोष किया उन्होंने प्रजातंत्र की स्थापना के साथ स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) के विरूद्ध आन्दोलन को भी जन्म दिया, इग्लैण्ड में जिसकी अभिव्यक्ति वायरन, शेली, कीट्स, वर्डसवर्थ तथा कालरिज जैसे कवियों में हुई।"१

शेली की "रिवोल्ट आफ इस्लाम" अमानवीय बुर्जुआ पूंजीवादी व्यवस्था के विरूद्ध एक ऐसी व्यवस्था के आगमन की गुहार करती है जिसमें सामान्य जन को वास्तविक स्वतंत्रता और न्याय की उपलब्धि हो सके। इसी सन्दर्भ में बोरिस सुखोव ने शेली को समाजवादी सौन्दर्यशास्त्र के प्रारम्भिक पुरस्कर्ता के

१— यथार्थवाद, डा० शिव कुमार मिश्र, पृ० — २४

रूप में स्मरण किया। गजानन माधव मुक्तिबोध ने तत्कालीन साहित्य के सन्दर्भ में लिखा है – "साहित्य काल्पनिक आधार छोडकर अधिक वास्तविक भूमि पर आता गया। फिर भी काल्पनिक और वास्तविकता का इतना भेद नहीं था, जितना वह अब है। इस सम्मिश्र साहित्य प्रकार का सुन्दर उदाहरण लाई वायरन का कथा काव्य "डान जुआने" है। परन्तु साहि० ने फिर पलटा खाया और रोमांस स्कूल के खिलाफ जबरदस्त विद्रोह हुआ। परिणाम था यथार्थवाद का प्राबल्य। आश्चर्य की बात है कि जिस तरह जर्मनी ने यूरोप के दार्शनिक विचार जगत का नेतृत्व किया उसी तरह फ्रान्स साहित्यिक विचारधारा का अग्रदूत रहा।"१

जर्मनी के महान बुद्धिवादी दार्शनिक कांट ने उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ मे ज्ञान की आलोचनात्मक प्रवृत्ति का श्री गणेश किया। कान्ट के अनुसार न तो बुद्धिवादियों के समान ज्ञान में अंधविश्वास करना चाहिये और न इन्द्रियानुभववादियों के समान ज्ञान में आत्मघाती और अनावश्यक संदेह। जब इस विचारधारा से दार्शनिक जगत में उथल पुथल मची हुई थी उसी समय फ्रांस में१८३०में ऐतिहासिक क्रान्ति हुई, जिससे फ्रांस के साहित्य में यथार्थ का आग्रह बढा, विशेष रूप से कथा–साहित्य में। इस क्रान्ति का प्रभाव समस्त विश्व पर पडा। साहित्य में निम्न दलित वर्ग का चित्रण सामने आया। फ्रांस के प्रभाव से रूस का उपन्यास साहित्य भी विकसित हुआ, साथ ही इंग्लैण्ड के महान साहित्यक उपन्यास भी सामने आये। इनमें जहां विक्टर ह्यूगो के नोत्रदाम, ल मिजरेबलस्, नाइन्टी थ्री, लाफिंग मैन आदि प्रसिद्ध उपन्यास हैं जिनमें पीड़ित, दलित, किसान मजदूर के भयानक वास्तविक चित्र हैं वहीं फ्लाबेर की सीमित नवीन मध्य वर्ग की परोपजीविता

१– मुक्तिबोध रचनावली, भाग–५, पृ०–२२

और अन्य सामान्य विषयो की रचनाएं है। रूस के टालस्टाय, दोस्तोव्यस्की, तथा पुश्किल आदि ने रूस की सामाजिक चेतना को अभिव्यक्ति दी। फ्रेच क्रान्ति के इर्द–गिर्द के उपन्यासों के बारे में लिखते हुए गजानन माधव मुक्ति बोध कहते है – "सामाजिक अन्यायों असामन्जस्यों, परस्पर विरोधों का जितना ज्वलन्त चित्रण फ्रेंच साहित्य में पाया जाता है उतना अंग्रेजी कथा साहित्य मे नही।"१

इसी लेख मे उन्होंने विकटर ह्यूगो की निजी विशिष्टता को रेखाकित करते हुए लिखा है कि – "विक्टर ह्यूगो की प्रजातत्रीय भावना अपने अतिरेक में शुद्ध और ज्वलत मानवतावाद पर जा पहुची इसका कारण था ह्यूगो का अपने वर्ग से हटकर अपने वर्ग की समस्याओ से हटकर निम्नतम मनुष्य श्रेणी में जा पहुचना। वह महान सहानुभूति वह ज्वलन्त मानवतावाद, मनुष्य की नग्न और वीभत्स वास्तविकता की मसीहाई, विकटर ह्यूगो की अपनी चीज है।"२

दो–दो महायुद्धों की विभीषिका ने पश्चिमी मानव जीवन को अस्त व्यस्तता, निरूपायता और मानवीय अस्तित्व के प्रति चिन्तित अवस्था में ढकेल दिया। मृत्यु, भय, निरर्थकता बोध आदि ने यदि पश्चिमी भौतिक युद्धाक्रांत मानव को अपने अस्तित्व चिंता की ओर इतनी तीव्रता से उन्मुख किया तो यह अस्वाभाविक नहीं है, बल्कि यथार्थ का कटुतम रूप है, और इस भयानक, भले ही अतिरंजित अवस्था का चित्रण साहित्य में किया जाता है तो इसके व्यक्ति स्वातंत्रय रूप दृष्टि को सामाजिक दृष्टि से भले ही अराजकता कह दिया जाय लेकिन साहित्यिक दृष्टि से व्यक्ति के अर्न्तविरोध भी, अति महत्वपूर्ण हैं जिनका सफल चित्रण मानवता का

१– मुक्तिबोध रच०, भाग–५, पृ०–३७४

२– मु० रच०, भाग–५, पृ०–३७१

अहित नही कर सकता। साहित्य के नियमो मे सौन्दर्यात्मक कल्पना दृष्टि का भी एक विशिष्ट आयाम है जिसको उपेक्षित नहीं किया जा सकता है। रीड का कहना है ---- "व्यक्तित्व के अन्तर्विरोधों का समाहार कला मे होता है। यह अति यथर्थवाद के प्रथम सिद्धान्त मे से एक है।"१

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में "कला कला के लिये" सिद्धान्त ने जोर पकडा परन्तु वह साहित्य और आलोचना के भीतर नैतिक और सामाजिक जागरूकता की बाढ न रोक सका।

मार्क्स, लेनिन, गोर्की आदि ने बीसवी शदी में प्रगतिशील समाजवादी साहित्य के सृजन मे अपनी कृतियों से महान योगदान किया जिसके आधार पर लेखको की एक लम्बी कतार सामने आयी, जिसने आधुनिक जीवन की विसंगतियों सामाजिक, राजनीतिक, चेतना की सफल अभिव्यक्ति अपने साहित्य मे की । मैक्सिम गोर्की ने "व्यक्तित्व का विघटन" नामक अपने प्रसिद्ध निबन्ध में उन परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण किया है जिनमे साहित्य में व्यक्तिवादी चरित्र जन्मा और अपने ही अन्तर्विरोधों ने उसे सामाजिक स्थितियो की अनिवार्य अभिव्यक्ति की ओर ढकेला– "विकास की चरम स्थिति मे, स्वयं के लिये पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने की प्यास ने, व्यक्ति को अपनी ही बनाई परम्पराओ और उन परम्पराओ को दिव्य बनाने वाले और अपने ही रचे परमात्मा का तीव्र विरोधी बनने पर मजबूर कर दिया।"२

१– पाश्चात्य अलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियां, जार्ज ह्यूम, पृ०–७२
उद्धृत – अतियथार्थवाद, डा० राम स्वरूप चतुर्वेदी

२– व्यक्तित्व का विघटन, मैक्सिम गोर्की, निबन्ध आन आर्ट एण्ड लिटरेचर पुस्तक, पृ०–७७

साहित्य के इतने लम्बे विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्यवादी रूप दृष्टि और सामाजिक वस्तुवादी दृष्टि में निरन्तर एक दूसरे के साथ टकराहट होती रही और इस प्रक्रिया मे वे एक दूसरे को ऊपर नीचे करते रहे। स्वस्थ साहित्य के विकास के लिये सब आवश्यक भी होता है। क्योंकि किसी पक्ष की जडता निश्चय ही प्रगतिशीलता के लिये घातक कही जायेगी। गजा० मा० मुक्तिबोध वस्तु और रूप पर विचार करते हुए समय बार–बार इस खतरे की तरफ आगाह करते हैं। वे जडीभूत सौन्दर्याभिरूचि को किसी दृष्टि से उपयुक्त नहीं मानते हैं। 'स्थित्यात्मक व्यक्तित्व, जो एक बन्द सन्दूक (क्लोस्ड सिस्टम) बनाता है (तुम नहीं व्याप सकते, तुममें जो व्यापा है उसी को निबाहो) जडीभूत सौन्दर्याभिरूचि को प्रस्तुत कर रहा है। इस तरह की जडीभूत सौनदर्याभिरूचि के फलस्वरूप ही कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री अपने ढर्रे के बाहर के क्षेत्र मे उपस्थित नयी काव्य–समृद्धि में विद्रूपता ` अतिरिक्त कुछ नही देखते । यदि हमे वैविध्यपूर्ण पर स्पष्ट द्वन्दमय मानव जीवन के (अपने अन्तर में व्याप्त) मार्मिक पक्षों का वास्तविक प्रभावशाली चित्रण करना है, तो हमें जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि और उसके सेंसर्स त्यागने होंगे, तथा अनवरत रूप से अपने ढाचों और फ्रेमों मे संशोधन करते रहना होगा। मनुष्य जीवन का कोई ऐसा अंग नहीं है जो साहित्याभिव्यक्ति के उपयुक्त हो। जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि एक विशेष शैली को दूसरी शैली के विरूद्ध स्थापित करती है।''१

जैसा कि पहले विवेचित किया गया है कि भारतीय साहित्य में भी अपनी निजी विशिष्ट साहित्यिक परम्परा रही है जहां नकार विरोध, मत वैभिन्य

१– मु०रच०, भाग–५, पृ०–१०६

आदि की विद्रोही अभिव्यक्तियां सूत्र रूप में रही हैं। भक्तिकाल मे इसके कुछ ज्वलत उदाहरण कबीर आदि के साहित्य में मिलते है लेकिन जनचेतना की अभिव्यक्ति पश्चिमी संदर्भो को लेते हुए भी भारतीयता के तत्वों के साथ हुई। विज्ञान के बढ़ते चरण में जब ब्रिटिश शासन के द्वारा मुद्रण सामग्री, रेल, तार की सुविधाएं यहां लायी गयी तो पश्चिमी विचार भी स्वीकार किये गये। भारतीय धर्म, अध्यात्म और विश्वास मूलक समाज मे तमाम रूढियां विभिन्न क्षेत्रों मे व्याप्त थी जिसे राजा राम मोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महर्षि अरविन्द आदि के सुधार आन्दोलन और महात्मा गाधी के नेतृत्व ने सामाजिक, राजनीतिक जागरण में महान भूमिका निभाई। बंगाल से नई विचारधारा की शुरूवात हुई। टैगोर व हिन्दी में प्रेम चन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, निराला एवं मुक्तिबोध आदि ने समाज सुधार एवं प्राचीन रूढिवादी विचारों को तोड़ने मे अमूल्य योगदान दिया। हिन्दी में भी दो धाराएं चलती रही। कविता में भी कई आन्दोलन चले पर अन्ततः मुक्तिबोध का काव्य युग की जटिल विसंगतियों को जिस प्रखरता से अभिव्यक्त करता है वह हिन्दी के कवियों का आज भी पथ प्रदर्शक बना हुआ है।

अध्याय - द्वितीय

मुक्तिबोध का जीवन और उनकी जन - चेतना का अर्न्तसम्बन्ध

साहित्यिक अध्ययन हेतु जीवनगत अध्ययन आवश्यक क्यो?

किसी रचनाकार के जीवन का परिचय क्यों प्राप्त किया जाय ? उसके व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं व स्थितियों - परिस्थितियों का अध्ययन क्यो किया जाय ? और फिर एक ऐसे विषय के सन्दर्भ में जिसका सम्बन्ध साहित्य के सैद्धान्तिक विवेचन से है, इस प्रकार का अध्ययन बाहर से देखने पर और भी अनावश्यक लगता है। और किसी कवि के जन-चेतना सम्बन्धी विवेचन में कवि के जीवन परिचय की भला क्या जरूरत। पर इस वात के प्रति सतही दृष्टिकोण से थोड़ा हटकर विषय को और भी गहराई से समझने का प्रयास करें तो हम पायेंगे कि किसी भी साहित्यिक अध्ययन व विवेचन के लिए उस व्यक्तित्व का अध्ययन आवश्यक है जिसके द्वारा उस साहित्य का सृजन हुआ है। साहित्यिक अध्ययन एक प्रकार से रचनाकार के चिंतन, उसकी कल्पना शक्ति, उसकी संवेदना व भावग्राही दृष्टि उसकी चित्रण शक्ति का ही अध्ययन है और यह बिना रचनाकार के निजी जीवन में झांके संभव नही। इसी बात पर प्रकाश डालते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी "साहित्य सहचर" नामक पुस्तक में लिखा है- "किसी ग्रन्थ की रचनाओ के अध्ययन के लिए रचनाओं का कालक्रम से वर्गीकरण किया जाता है और ग्रन्थकार के व्यक्तिगत जीवन के साथ उन रचनाओं का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। ऐसा करने से ग्रन्थकार और उसकी रचनाओं को समझने में आसानी होती है। ग्रन्थकार के अध्ययन के लिए चार बातों

की जानकारी आवश्यक है। (१) वह किस काल में पैदा हुआ (२) वह किस जाति व समाज मे पेदा हुआ (३) उसके सम समायिक और पूर्ववर्ती अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थकार कौन- कौन से थे, और उनसे उसका कोई सम्बन्ध था या नही तथा (४) उसका व्यक्तिगत जीवन क्या और कैसा था।"१

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का उपर्युक्त उद्धरण साहित्यकार के निजी जीवन के अध्ययन के महत्व पर प्रकाश डालता है। रचनाकार के जीवन के अध्ययन के महत्व को और भी स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं- "यदि हम रचनाकार के जीवन से परिचित हो, उसके अनुभवों के उतार- चढाव की जानकार हो तो बहुत सी साहित्यिक उलझने सुलझ जाती हैं। वस्तुतः कोई भी महान ग्रन्थ अपने लेखक के --------------- विभाग से हृदय से और रक्त मांस से बना होता है। महान ग्रन्थकार अपने अनुभव से सजीव सृष्टि करता है। वह कल्पना और बुद्धि के सहारे गढे हुए जीवो मे आस्था नही रखता । स्वर्गीय प्रेमचन्द्र जी ने कहा था- "कल्पन से गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नही है, उनके कार्यो और विचारो से हम प्रभावित नही होते। हमें इसका ज्ञान हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की है, या अपने पात्रों की जवानो से वह खुद बोल रहा है।" किसी रचनाकार का सम्पूर्ण आनन्द पाने के लिए रचयिता के साथ हमारा घनिष्ठ परिचय आलोचक होने के पहले आलोच्य ग्रन्थकार का विश्वासपरायण श्रोता बन सकने में है, क्योंकि उस हालत में ही उसके व्यक्तिगत सुख-दुख के साथ सहानुभूति का भाव रख सकते है।

---

१. सहि० सहचर- डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ - ७ - ८

डा० ह०प्र० द्विवेदी के उपर्युक्त वक्तव्य के बाद इस बात पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं लग सकता कि रचनाकार से सम्बन्धित किसी भी तरह के अध्ययन के लिए उसके समग्र जीवन का अध्ययन कितना आवश्यक है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी समालोचक टेन ने कहा था कि किसी भी व्यक्ति का निर्माण तीन निर्वैयक्तिक उपादानों से होता है - १. उसकी वंश परम्परा २. उसकी परिपार्श्विक परिस्थिति और ३. उसके युग की विचाराधारा और विश्वास। इन्हीं उपादानों को दृष्टिगत रखते हुए इस अध्याय में मुक्तिबोध के जीवन का अध्ययन किया जा रहा है।

मुक्तिबोध के बचपन के समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं उनकी पारिवारिक स्थिति -

गजानन माधव मुक्तिबोध का जन्म १३ नवम्बर १६१७ में गवालियर राज्य के मुरैना जिले में श्योपुर नामक गॉव में एक मराठी परिवार में हुआ। मुक्तिबोध के परदादा वासुदेव जलगॉव (खान्देश) से नौकरी के लिए ग्वालियर राज्य आये और फिर वहीं बस गये। वे अपने साथ स्वप्न दर्शन के फलस्वरूप प्राप्त एक शिवलिंग भी लाये थे, जिसकी पूजा आज तक परिवार में श्रद्धा से होती है। इसका उल्लेख मुक्तिबोध नें अपनी एक कविता "एक स्वप्न कथा" में इस प्रकार किया है -

ज्ञानी एक पूर्वज नें

किसी राम, नदी का पानी काट,

मन्त्र पढ़ते हुए

---

१. साहित्य - सहचर - डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२

गहन जलधारा में गोता लगाया था कि

अन्धकार जल तल का स्पर्श कर

इधर ढूंढ, उधर खोज

एक स्निग्ध, गोल-गोल

मनोहर तेजस्वी शिलाखण्ड

तमोमय जल में से सहज निकाला था,

देव बना पूजा की।"१

वशं का नाम 'मुक्तिबोध' कैसे पड़ा, इसके विषय में प्रमाणिक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि श्री शमशेर बहादुर नें लिखा है - ऋग्वेदी कुलकर्णों ब्राह्मणों में किसी पूर्वज नें 'मुग्ध-बोध' नाम का (दास बोध की तरह का या जवाब मे) कोई आध्यात्मिक ग्रन्थ सम्भवतः खिलजी - कला में लिखा था। कालान्तर में उसी पर 'मुक्तिवोध' वंश का नाम चल पड़ा।"२

इस तथ्य के स्पष्टीकरण हेतु नागपुर में मुक्तिबोध के अनुज मराठी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री शरत चन्द्र मुक्तिबोध के कथन से मालूम हुआ कि इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। शमशेर जी से भेंट के समय उनकी मन स्थिति ठीक नहीं थी (उनके प्रश्नों के उत्तर देने की स्थिति में ही नहीं थे) अतः हो सकता है वंशपरम्परा के नामकरण के सम्बन्ध में इसी प्रकार की कोई बात कही गयी हो।

---

१. चॉद का मुंह टेढा है, पृ० १८७

२. चॉद का मुह टेढ़ा है, पृ० १२

मुक्तिबोध के दादा टोंऊ (राजस्थान राज्य में) में दफ्तरदार थे और अपने में फारसी ज्ञान के कारण 'मुन्शी जी के नाम से प्रसिद्ध थे। मुक्तिबोध के पिता श्री माधव राव गोपालराव मुक्तिबोध ग्वालियर स्टेट में सब-इन्सपेक्टर थे। इनका भी उर्दू पर अच्छा अधिकार था। कई स्थानों में थानेदार रहने के उपरान्त वे उज्जैन में सब-इन्सपेक्टर (पुलिस) नियुक्त हुए और इसी पद से सन् १६३६ में रिटायर हुए। रिटायर होने के पश्चात् वे महाड़िक (घाट के इधर) डिक्रधान में जागीर में कार्य करने चले गये। मुक्तिबोध की माता श्रीमती पार्वती बाई बुन्देलखण्ड में ईसागढ़ के एक किसान परिवार की नियमित रूप से पूजा-पाठ करने वाली एक धर्म परायण महिला थी। यद्यपि विशेष पढ़ी-लिखी नहीं थी (रामायण इत्यादि बॉच लेती थी) लेकिन पढ़नें की महत्वाकांक्षा अन्तिम समय तक थी। इन्हे प्रेमचन्द्र बहुत प्रिय थे। प्रेमचन्द्र के विचारों से वे बहुत प्रभावित थी। उन्होंनें ही मुक्तिबोध को प्रेमचन्द्र का भक्त बनाया। मुक्तिबोध लिखते है - "प्रेम चन्द्र की सूरत देख, मेरी मॉं बहुत प्रसन्न मालूम हुई। वह प्रेम चन्द्र को एक कहानीकार के रूप में बहुत चाहती थी। उनकी दृष्टि से यानी उनके जीवन में महत्व रखने वाले सिर्फ दो ही कादम्बरीकार (उपन्यास लेखक) हुए है - एक हरी नारायण आप्टे दूसरे प्रेमचन्द्र। मेरी मॉं जब प्रेमचन्द्र की कृति पढ़ती तो उसकी ऑखों में बारम्बार आंसू छलछलाते से मालूम होते और तब उन दिनों मैं साहित्य का एक जड़मति विद्यार्थी मात्र मैट्रिक का दर्द भरा एक छोकड़ा था ------ प्रेम चन्द्र की कहानियों का दर्द भरा मर्म मुझे बताने बैठती। ------ प्रेम चन्द्र के प्रति मेरी श्रद्धा व ममता को अमर करने का श्रेय मेरी मॉं को है।"[1]

मुक्तिबोध - मेरी मॉं नें मुझे प्रेमचन्द्र का भक्त बनाया, राष्ट्र भारती, पृ० ६६३-६५

मुक्तिबोध के पिता यद्यपि पुलिस सब-इन्सपेक्टर थे - सम्मानित पद पर थे, पर ईमानदार पुलिस अधिकारी होने के कारण आय अच्छी नहीं थी अतः परिवार के सदस्यों का भरणा-पोषण मुक्तिबोध के पिता की छोटी सी आय से कठिनाई से ही हो पाता था। डा० माचवे कहते हैं - मुक्तिबोध के पिता सब-इन्सपेक्टर थे, रूतबा अच्छा था पर आय अच्छी नहीं थी। घर में कई सदस्य थे। आज भी उनकी माँ का एक चित्र सामने आता है - हाथ में माला लिये, ईधन के लिए कांटे-बबूल की लकड़ियां बीनते हुए।

मुक्तिबोध के पिता बहुत ही कर्तव्य निष्ठ और ईमानदार व्यक्ति थे। अपनी आन पर दृढ़ और दबंग पुलिस अधिकारी थे। शमशेर लिखते हैं - पूजापाठी, न्यायनिष्ठ मगर बहुत दबंग और निर्भीक, ड्यूटी के कठोरता से पाबन्द राजभक्त/खासी धाक/रिश्वत नहीं ली, न पैसा जमा किया। अपनी आय पर जिये।"१

मुक्तिबोध चार भाई थे - गजानन माधव मुक्तिबोध, शरतचन्द्र मुक्तिबोध, बसन्त मुक्तिबोध तथा चन्द्रकान्त मुक्तिबोध। इनमें श्री शरतचन्द्र जी मुक्तिबोध मराठी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार हैं। सब भाईयों में बड़े होने के कारण मुक्तिबोध का लालन-पालन विशेष लाढ़-प्यार से हुआ था। माँ, पिता के अतिरिक्त दादा का भी इन पर असीम स्नेह था। मुक्तिबोध के पहले दो भाईयों की मृत्यु हो जाने के कारण, मुक्तिबोध माँ, पिता व दादा को अतिरिक्त प्रिय थे। उनकी प्रत्येक इच्छा पूर्ण की जाती थी। उनका बचपन बहुत ही सुखमय तथा प्रियजनों के स्नेह व दुलार से रंजित था। मुक्तिबोध के अनुज श्री शरतचन्द्र जी

---

१. चांद का मुंह टेढ़ा है - पृ १२

मुक्तिबोध उनके बचपन का चित्र इन शब्दों में दोहराते हैं - "बड़े भैया बहुत लाड़-प्यार में पले थे। पहले दो लड़के गुजर जाने से माता पिता उनको आँखों से ओझल नहीं होने देते थे। माँ का एक संस्मरण यहाँ जोड़ रहा हूँ। तब भाई साहब चार-पांच साल के थे। पिता जी सब-इन्सपेक्टर पुलिस थे। भाई साहब को तब थाने के बरामदे में बिठा दिया जाता था। एक सिपाही दूसरे सिपाही को पीटने का बहाना करता। दूसरा मानो डरा हुआ भाई साहब की शरण में आता और कहता - 'देखो रज्जन भैया, हमें मारा और झूँठ-मूंठ रोने लगता। रज्जन भैया फौरन कुर्सी से नीचे कूद पड़ते और पिता जी की छड़ी उठाकर मारने वाले सिपाही के पीछे दौड़ पड़ते वह सिपाही छिपता फिरता, फिर पकड़ में आ जाता, उनकी मार खाता। वर्दी में लैस पिता जी यह देख अपनी घनी-घनी मूंछों में हंसते रहते।"[१] आगे वे लिखते हैं - भाई साहब बड़े जिद्दी बन गये थे और रोया करते। बाहर अर्दली सम्हालते और घर पर नानी। रज्जन की गैया आव-आव कहकर वह उन्हें घन्टों डुलाती रहती। शाम को बाबा गाड़ी में बैठकर उन्हें हवा खोरी के लिए भेजा जाता। सातवे आठवें साल तक उन्हें उर्दली कपड़े पहनाया करते थे। पिता जी रियासती पुलिस सब-इन्सपेक्टर थे, यानी गाँव के राजा थे। इसलिए भाइ साहब की खुसामद सब जगह होती थी। जब वे कुछ बड़े हुए तब उन्हें "बाबू साहब" कहकर पुकारने की माँ नें आज्ञा दे दी। हम लोग उन्हें इसी नाम से पुकारते थे। (हालांकि यह 'साहब' मैनें कभी पसन्द नहीं किया, लेकिन बड़े होकर भाई साहब नें मेरे नाम के साथ भी साहब जोड़ दिया) हमारे बाबा (प्रपिता) की अपने पोते पर असीम कृपा थी। उनकी हर छोटी-बड़ी जिद वे पूरी किया करते थे। बाबा की नौकरी

---

१. शरतचन्द्र मुक्तिबोध, राष्ट्रवाणी : मुक्तिबोध विशेषांक जनवरी फरवरी - पृ० २८८

जिस गाँव में होती वहीं बड़े भैया महीने दो महीने रहने जाया करते और मेरा मिठाई से उनकी पूजा किये बगैर कभी प्रसन्न नहीं होते थे।

शिक्षा एवं साहित्यिक अभिरूचि का विकास :-

मुक्तिबोध की आरम्भिक शिक्षा उज्जैन, विदिशा, अमझरा, सरदारपुर आदि स्थानों पर हुई। पिता के पुलिस सब-इन्सपेक्टर होने के कारण मुक्तिबोध की पढ़ाई का सिलसिला टूटता-जुड़ता रहा, फलतः १६३० में उज्जैन में मिड़िल परीक्षा में असफलता मिली जिसे कवि अपने जीवन की "पहली महत्वपूर्ण घटना मानता है।"१ यह परीक्षा मुक्तिवोध नें उज्जैन के माधव कालेज में दी थी। दूसरे वर्ष अर्थात १६३१ में इस परीक्षा में सफलता प्राप्त की। अपनी इस सफलता के कारण वे परिवार के तथा बाहर के लोगों के लिए प्रशंसा के प्रमुख पात्र बन गये थे। मुक्तिबोध की उस समय की स्थिति का चित्रण उनके अनुज श्री शरतचन्द्र मुक्तिबोध इस प्रकार करते हैं - "जब भाई साहब ग्वालियर स्टेट की मिड़िल परीक्षा पास हुए तब तो उनकी प्रशंसा करते माँ-पिता और पास-पड़ोस के लोग नहीं अघाते थे। मैट्रिक और इण्टर तक पहुंचने पर तो पूरे परिवार के प्रशंसा के केन्द्र बिन्दु बन गये थे। हमारे घर के वे पहले पढ़े-लिखे आदमी थे। उनकी सब जरूरते पूरी की जाती थी। हम छोटे भाइयों का अस्तित्व उनके लिए नहीं के बराबर था। भाई साहब अत्यन्त भावुक, अर्न्तमुखी प्रवृत्ति के सरल और उदार थे, उतने ही वे एकदम आत्मकेन्द्री और अपनी हर जिद पर कायम रहने वाले बन गये थे।"२

---

१. तार सप्तक (१६४३) पृ० ३६

२. राष्ट्रवाणी, मु० विशे०जन०फर० पृ०२८८

मुक्तिबोध ने १९३५ में माधव कालेज उज्जैन में इण्टर मीडिएट परीक्षा पास की थी। यहीं से उनकी नियमित काव्य-रचना आरम्भ हुई। उनकी प्रतिभा के अंकुर फूटनें लगे थे। उनकी वाणी में गरिमा की गूंज ध्वनित हो रही थी और लेखनी के स्फुलिंग यदा-कदा जगमगाते दिख पड़ते थे। कैशौर्य का विर्सजन और तारूण्य के अवतरण की इस संधि-बेला में मुक्तिबोध का भावी जीवन पथ, अपनी राह खोजने को आकुल हो छटपटानें लगा था। भोपाल में मुक्तिबोध को प्रभाग चन्द्र शर्मा के आस-पास का वातावरण युवक मुक्तिबोध को अधिकाधिक जिज्ञासु बनाये जा रहा था। ये वे दिन थे, जब अंग्रेजी के आतंकपूर्ण शासन से युवक वर्ग 'देश की दासता' के प्रति अतिरिक्त सजग हो उठे थे। एक ओर क्रान्तिकारी दल था, जो अंग्रेजों का तख्ता उलटने के लिए जान पर खेल रहा था और दूसरी ओर गॉधी का आदर्शवाद था जो जन-जन के सपनों में रंग भर रहा था और ऐसे में मुक्तिबोध अपने मित्र शान्ता राम क्षीर सागर के साथ रात देर तक शहर के सन्नाटे में घूमते रहते। शमशेर लिखते हैं - "इनका एक सहपाठी था शान्ता राम जो गरत की ड्यूटी पर तैनात हो गया था। गजानन उसी के साथ रात को शहर की घुमक्कड़ी को निकल जाते। बीड़ी का चस्का शायद तभी से लगा। रात का सन्नाटा, पुलिस की सीटियां, एक अकूत रहस्य का वातावरण। सामन्ती और उसकी आढ़ में कहीं छिपा, बन्दूक सम्भाले गोराशाही का आतंक। जुर्मों, भीषण अत्याचारों, जघन्यकृत्यों और सजाओं की कहानियां उसकी जिज्ञासा को प्रखर करती।"१

---

१. चांद का मुह टेढ़ा है - भूमिका - पृष्ठ १२

आगे अध्ययन के लिए मुक्तिबोध इन्दौर आ गये। इन्दौर में मुक्तिबोध की बुआ रहती थीं। मुक्तिबोध अपनी बुआ के पास ही रहते थे। यहीं मुक्तिबोध का सम्पर्क प्रभाकर माचवे से हुआ। उस समय प्रभाकर माचवे इन्दौर के क्रिश्चियन कालेज में पढ़ते थे और मुक्तिबोध होल्कर कालेज में बी०ए० के विद्यार्थी थे। मुक्तिबोध के उन दिनों के सहपाठी मित्रों में श्री वीरेन्द्र कुमार जैन तथा श्री प्रभाग चन्द्र शर्मा विशेष उल्लेखनीय हैं। दोनों ही रोमानी कल्पना के कवि। मुक्तिबोध अक्सर अपने साथी वीरेन्द्र कुमार जैन के साथ दिखाई देते थे। रंग सावंला चेहरा भरा हुआ देखने में भी अच्छे थे। लम्बे-लम्बे बाल रखते थे और डग भी लम्बे-लम्बे ही भरते थे। एक विशेष प्रवृत्ति थी उनकी जो हमें बहुत खलती थी, वह भी उनके चित्त - विचलन की प्रवृत्ति। बात करते-करते एकाएक कह उठते 'अच्छा माचवे जी हम चल दिये' और चल देते थे, जब तक हम उन्हें आवाज दे -- दें वे बहुत दूर निकल जाते थे। वे कहीं टिक नहीं पाते थे। चित्त विचलन की अपनी इस प्रवृत्ति को मुक्तिबोध स्वयं "स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति"[१] Migration Instict कहते थे।

१९३७ में बी०ए० की परीक्षा में असफल हुए, अनन्तर १९३८ में बी०ए० में सफलता प्राप्त की। इस समय तक उनका मानसिक - क्षितिज विस्तार पा चुका था। उनकी रचनायें 'कर्मवीर' 'वीणा' इत्यादि पत्रिकाओं में छपने लगी थी, यद्यपि उनमें छायावादी भावुकता ही मुखर थी और वे महादेवी तथा माखनलाल 'स्कूल' की शैली से ही अधिक प्रभावित थी। माता पिता की कल्पनाऐं कुछ और ही थी और पुत्र मुक्तिबोध अन्य ही दिशा में बढ़ते जा रहे थें। पिताजी उनकों बड़ा अफसर बनाने के सपने देख रहे थे। माँ नई बहू

मु०रच०, भाग - ५, पृ० २७१

की कल्पना में विभोर हो रही थी। भाई साहब इन सब बातो से बेखबर थे। साहित्य के अध्ययन से कट्टर आदर्शवादी बन गये थे और उनका कवि ह्दय रवीन्द्र और गाँधी के पथ पर चलने के लिए आतुर हो उठा था। शमशेर ने लिखा है - पिता चाहते थे कि बेटा वकील बने बड़े- बड़े मुकदमें हाथ में ले और खूब कमाये ओ़र सामाजिक प्रष्ठिा में उनसे भी ऊपर उठे। मगर उसकी जिज्ञासाएं तो उसे शीघ्र ही बौद्धिक हलचलों में खीच ले गयी- ये तीसरे दशक के अन्तिम वर्ष थे। राष्ट्रीय और सांस्कृतिक ऊहापोह के वर्ष थे। अस्तु वह कमाना चाहता था ज्ञान, धन नही खोज रहा था - सम्मानो की रूढ़ियाँ नही दृष्टि और अनुभव नये युग के अनुभव और करूण की विलक्षण अनुभूतियाँ।

एक ओर रोमानी कल्पना के कवि मित्र, वीरेन्द्र कुमार जैन, प्रभाग चन्द्र शर्मा आदि थे दूसरी ओर श्री राम शंकर शुक्ल 'ह्दय' का प्रोत्साहन उनके भावुक कवि ह्दय को प्राप्त था। उसी साहित्य और साहित्यकारों की ओर भी उनका आकर्षण बढता जा रहा था। विशेष कर गोर्की, टालस्टाय, फ्लावेयर, दास्तायवस्की आदि साहित्यकार उन्हें विशेष रूप से आकृष्ट किये हुए थे। मुक्तिबोध एक मानसिक संघर्ष की स्थिति में से रहते थे। उन दिनो भी एक मानसिक संघर्ष था। एक ओर यह हिन्दी का नवीन सौन्दर्य काव्य था, तो दूसरी ओर मेरे बाल-मन पर मराठी साहित्य के अधिक मानवतामय उपन्यास लोक काभी सुकुमार परन्तु तीव्र प्रभाव था। टालस्टाय के मानवीय समस्या सम्बन्धी उपन्यास या महादेवी वर्मा? समय का प्रभाव कहिए या वय की मांग या दोनो, मैने हिन्दी के सौन्दर्य लोक को ही अपना क्षेत्र चुना। और मन की दूसरी मांग वैसे ही पीछे रह गयी जैसे अपने आत्मीय राह में पीछे रह कर भी साथ चले चलते हैं।"[१]

---

१. तार सप्तक (१६४३) पृ-४१

इसी बीच जीवन में आया एक नवीन मोड़- भावुक युवा हृदय में प्रेम का अवतरण । शमशेर जी लिखते है - "बीस इक्कीस साल का यह सरल हृदय भावुक और जिज्ञासु युवक एक ढहती परम्परा और आने वाले युग के बीच खड़ा अपने चारो ओर देख रहा था। उपेक्षितों दलितो के लिए उसकी सहानुभुति तेजी से बढ़ रही थी कि उसे आमूल हिलाता, अचानक उसके जीवन में आया प्रेम। एक जूनून, गहरा और सुन्दर और स्थायी।"१

इन्दौर में मुक्तिबोध का परिचय शान्ताबाई से हुआ। परिचय घनिष्ठा में परिवर्तित होता गया शान्ताबाई की बहन श्रीमती कृष्णाबाई कुलकर्णी इन्दौर में नर्स थी, जिससे शान्ताबाई इन्दौर आती जाती रहती थी, यो वे महू में रहती थी। मुक्तिबोध भी बीच-बीच में महू चले जाते थे मुक्तिबोध के माता पिता उनकी इस घनिष्ठता से बहुत रूष्ट थे, और वे किसी तरह इसे तोड़ना चाहते थे। इसका भी एक विशेष कारण था। मुक्तिबोध के पिता अभिजात स्वभाव के थे। वर्ग भेद को बहुत महत्व देते थे। शान्ताबाई एक गरीब परिवार से थी। शान्ताबाई की मॉ मुक्तिबोध के घर खाना बगैरह बनाया करती थी। यही वर्ग भेद उनके माता पिता द्वारा इस सम्बन्ध के विरोध का प्रमुख कारण था और इसलिए सम्बन्ध को तोड़ने का हर सम्भव प्रयास किया। उन्होने अपनी बदली उज्जैन से इसीलिए करा ली, पर इससे मुक्तिबोध की भावनाओं मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही हो सका। वे दृढ़ प्रतिज्ञ थे। माचवे जी लिखते है कि - पर मुक्तिबोध ऐसे मनस्वी व्यक्ति थे कि बिना टिकट ही शान्ताबाई से मिलने महू पहुँच जाते थे। ऐसा करते हुए सामने आने वाली कठिनाइयों

---

१. चांद का मुंह टेढ़ा है, भूमिका, पृष्ठ - १३

की कभी चिंता नही करते थें। परिवार के निरन्तर बिरोध से परेशान होकर वे मेरे यहां आ गये और एक महीने तक मेरे ही घर पर रहे। माता पिता इनकी खोज में परेशान होते रहे, फिर बड़ी कठिनाई से समझा बुझाकर उन्हे वापस घर भेजा गया और आखिर माँ पिता को यह सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ा। ऐसे दृढ निश्चयी थे मुक्तिबोध। जाति कुल और सामाजिक वैषम्य के अवरोधों को एक तरफ ठेल कर प्रेम विवाह कर लिया और स्पष्ट है पूरे परिवार और सम्बन्धियों का घोर विरोध झेला। मुक्तिबोध किसी प्रकार के बन्धन को स्वीकार नही कर पाते थे, यह उनके लिए सहज था। उनके इस बन्धन मुक्त स्वभाव के कारण उनके प्रिय जन कठिनाई में भी पड़ जाते थे, पर मुक्तिबोध स्वयं से विवश थे। इस संबंध में उनके अनुज श्री शरतचन्द्र जी मुक्तिबोध उनके विवाह के समय की घटना का उल्लेख करते हुए कहते हैं - "वे स्वभावतः किसी भी वाह्य बन्धन को नही मान सकते थे, ऐसा करने से क्या परिणाम होगें इसका ख्याल भी उनके दिमाग में कभी नही आ पाता था। उनके बन्धन संस्कार को उन्होने सारे दिन रोते हुए सम्पन्न किया था। शादी हालांकि उनके मन मुताबिक ही हुई थी। लेकिन उज्जैन पहुँचते हुए बरात जब क्षिप्रा के किनारे रूकी तब दूल्हे साहब मोटर से कब उतर पड़े और बातों में ऐसे मशगुल हुए कि बरात कब चल पड़ी, पता नही चला । घर पहुँच कर वधू के साथ जब वर को नदारत पाया, माँ पिता बड़ी चिन्ता में पड़ गये। सिपाही लोग हम सब लोगो को खोजने के लिए दौड़ गये। घंटे दो घंटे बाद किसी विषय पर चर्चा करते हुए दूल्हे साहब भी घर पहुँचे, तब कही सर्व मंगल विधि शुरू हुई।"[1]

---

१. राष्ट्रवाणी, मुक्तिबोध विशेषांक जन० फर० १९६५, पृष्ठ - २९०

इसके साथ ही मुक्तिबोध के जीवन में संघर्ष की वह श्रृंखला आरम्भ हुई, जिसमें निरन्तर कड़ी-दर-कड़ी जुड़ती चली गयी - जो संघर्ष जीवन में कभी कम नहीं हुआ। शारीरिक तथा मानसिक संघर्ष से मुक्तिबोध जीवन के अन्तिम क्षण तक जूझते रहे। मुक्तिबोध के स्वेक्षापूर्वक विवाह के कारण घर में उनके प्रति बहुत रोष फैल गया जो कभी कम नहीं हुआ। वैसे विवाह सजातीय ही था परन्तु जातिगत भेद न होते हुए भी वर्गगत भेद तो था ही और वर्गगत भेद की विषमता ही परिवार के रूष्ट होने का प्रमुख कारण था। मुक्तिबोध के स्वेच्छापूर्वक विवाह के कारण परिवार के लोग उनके रूष्ट व असन्तुष्ट थे। मुक्तिबोध के पिता अभिजात स्वभाव के थे और मुक्तिबोध ने विवाह किया था अपने घर में काम करने वाली की लड़की के साथ। जातिगत भेद न होते हुए भी वर्गगत भेद का आधिक्य परिवार का मुक्तिबोध के विरूद्ध होने का बहुत बड़ा कारण था। विरोध कभी कम नहीं हुआ लेकिन माता-पिता के प्रति पुत्र-वधू के सेवाभाव में अंशमात्र भी कमी नहीं आयी। मुक्तिबोध की बड़ी विचित्र स्थिति थी परिवार में। भाईयों से बनती नहीं थी, और पिता से बहुत कम बात करते थे। इधर पारिवारिक परिस्थितियां जटिल होती जा रही थी। १६३६ में पिता नौकरी से रिटायर हो चुके थे। इनके पिता बड़े लोकप्रिय, ईमानदार और जवरदस्त पुलिस अफसर अवश्य थे, किन्तु रिटायर होने के बाद की व्यवस्था उन्होनें कुछ नहीं की थी। श्री शरत चन्द्र मुक्तिबोध के शब्दों में - इस मामले में वे भाई साहब पर निर्भर थे। पिता के रिटायर होते ही हम महलनुमा क्वाटर को छोड़कर किराये के मकान में आ गये। फर्नीचर आदि सब गायब हो गया। अर्दली वगैरह सब चले गये। हम बाकी के तीनों भाई पढ़ ही रहे थे कि पढ़ाई छोड़ने का मौका आ गया। तनख्वाह बन्द हो गयी।

थोड़ी सी पेंशन थी जो मिलने के लिए काफी समय था। पिता छोटी सी जागीर में नौकरी करने चले गये। हम सब लोग भाई साहब की ओर देखने लगे।"१

मुक्तिबोध उस समय तक बी०ए० कर चुके थे और परिस्थितियों का आग्रह था कि अब वे नौकरी करें, क्योंकि पिता के रिटायर होने के पश्चात् पूरा परिवार उन्हीं पर निर्भर करता था। अतः जुलाई १६३८ में मध्य प्रदेश में ही बड़नगर के एक मिडिल स्कूल में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। अभी उन्हें वहां कार्य करते चार माह ही हुए थे कि नवम्बर में डा० नारायण विष्णु जोशी, डा० प्रभाकर माचवे से मुक्तिबोध का परिचर प्राप्त कर उन्हें अपने कार्य में सहयोग देने के लिए लेने आ पहुंचे। डा० नारायण विष्णु जोशी उन दिनों सुजालपुर में शारदा शिक्षा - सदन में प्रमुख अध्यापक के रूप में कार्य कर रहे थे। यह संस्था गाँधी जी के प्रेरक विचार तत्वों के फलस्वरूप ही निर्मित हुई थी। देश को सच्चे नागरिकों की आवश्यकता थी और यह संस्था उसी दिशा में एक प्रयत्न थी। इसकी प्रेरणा डा० नारायण विष्णु जोशी की फैजपुर अधिवेशन (१६३७) महात्मा गाँधी तथा अन्य नेताओं की अपील से मिली थी जिसमें उन्होंने कहा था कि स्वाधीनता प्राप्ति के लिए देश के सुशिक्षित नवयुवकों को देहातों में जाकर रचनात्मक कार्य करना चाहिए उन्हीं की प्रेरणा से डा० नारायण विष्णु जोशी नें ऊँची-२ नौकरियों के प्रलोभन का परित्याग कर सुजालपुर मण्डी से कोई ढाई मील पर स्थित गेरखेड़ी गाँव में स्व० श्री रामचन्द्र चौबे की सहायता से शारदा शिक्षा सदन की नीव रखी। इस संस्था का वातावरण राष्ट्रीय देशभक्ति का जोशीला वातावरण था। जब इस संस्था को हाईस्कूल बनाने का विचार किया गया, तब अच्छे

---

१. राष्ट्रवाणी, मुक्ति० विशेषांक, जन०फर० १६६५, पृ० - २८६

सहयोगी की समस्या सामने आयी। डा० माचवे उन दिनों माधव कालेज उज्जैन में दर्शन शास्त्र के अध्यापक थे, मुक्तिबोध का परिचर दे दिया। मुक्तिबोध हर्षित मन से बिना वेतन की चिन्ता किये डा० नारायण विष्णु जोशी के साथ कार्य करने के लिए सुजालपुर आ गये। इस सम्बन्ध में डा० जोशी लिखते हैं - "माचवे जी नें जब उन्हें मेरा अधिक परिचय दिया तो मुक्तिबोध जी बहुत प्रसन्न हुए। वे तुरन्त मेरे साथ ही सुजालपुर मण्डी चलने को तैयार हो गये। मैने उनसे कहा कि फिलहाल उन्हें माहवार रूपया ३० से अधिक वेतन नहीं दिया जा सकता, और वह भी मंडी की व्यवस्थापिका कमेटी उसे मंजूर कर ले तब। किन्तु मुक्तिबोध जी का मुझ पर कुछ ऐसा विश्वास हो गया था कि उन्होनें इस बात पर कतई ध्यान नहीं दिया और उसी रात ट्रंक भरकर मेरे साथ हो लिए।"[1]

मुक्तिबोध नें अपने अध्यापन कौशल से छात्रों पर अपना आधिपत्य जमा ले गये। मुक्तिबोध की दर्शन शास्त्र में सहज रूचि थी परन्तु विवाह हो जाने के कारण उज्जैन चले आये, और दर्शन शास्त्र में एम०ए० की इच्छा पूर्ण न हो सकी। परन्तु डा० नारायण विष्णु जोशी जो वर्गसा के 'आत्मतंत्रवाद' में पी०एच०डी० कर चुके थे, के सानिध्य के कारण वर्गसां के जीवन दर्शन की ओर आकृष्ट हुए और एक समय तक वर्गसोनीय व्यक्तिवाद से प्रभावित रहे, जैसा कि उन्होनें स्वयं स्वीकार किया है - १६३८ से १६४२ तक के पांच साल मानसिक संघर्ष और वर्गसोनीय व्यक्तिवाद के वर्ष थे। आन्तरिक विनष्टशान्ति के और शारीरिक ध्वंस के समय में मेरा व्यक्तिवाद कवच की भांति काम करता रहा। वर्गसां की

---

१. राष्ट्रवाणी, मुक्तिबोध विशेषांक, जन०फर० १६६५, पृ० - २६४

स्वतंत्र क्रियमाण 'जीवन शक्ति' (Elan Vital) के प्रति मेरी आस्था बढ़ गयी थी।"१ कहने की आवश्यकता नहीं हैं कि यह काल डा० नारायण विष्णु जोशी का सानिध्य काल था।"२ विवाह हो जाने पर मुक्तिबोध को सुजालपुर मण्डी को छोड़कर उज्जैन जाना पड़ा क्योंकि घर के लोग नव-वधू को घर पर ही रखना चाहते थे। अतः मुक्तिबोध नें अगस्त १६३६ में उज्जैन में दौलतगंज मिडिल स्कूल में नौकरी कर ली। लेकिन साल भर बाद ही फिर अक्टूबर १६४१ को एक सुबह डा० नारायण विष्णु जोशी के पास सुजालपुर जा पहुंचे और वहीं नौकरी करने की इच्छा प्रकट की। डा० जोशी मुक्तिबोध के प्रस्ताव से बड़े धर्म संकट में फंस गये, क्योंकि मुक्तिबोध की जगह नेमिचन्द्र जैन आ गये थे, और संस्था की आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। लेकिन मुक्तिबोध की पुनः नियुक्ति हो गयी। इस सम्बन्ध में डा० जोशी संस्मण में लिखते हैं -

एक दिन सुबह अचानक कवि मुक्तिबोध हाथ में सूटकेश लटकाए मेरे सामने आ खड़े हुए। बालकों जैसी सरलता से कहने लगे 'मैं अब फिर यहीं रहना चाहता हूं। मुझे पाठशाला में नियुक्त कीजिए।' पाठशाला की आर्थिक स्थिति उस समय बहुत कमजोर थी। अतः यद्यपि मुक्तिबोध के आ जाने से हम सबको हर्ष हुआ, तथापि उनकी नियुक्ति प्रस्ताव नें मुझे उलझन में डाल दिया। नेमि बाबू का भी अनुरोध था कि किसी प्रकार मुक्तिबोध जी को सुजालपुर मण्डी मे ही रखा जाये। मुक्तिबोध जी को हम सब जानते तो थे ही। अतः जब मैनें कमेटी के सदस्यों के सामने कवि की नियुक्ति का प्रस्ताव रखा तब बिना किसी

---

१. तारसप्तक (१६४३) पृ० ४२

२. व्यक्तित्व और खंडहर (तारसप्तक में संकलित) पृ० ७० - ७२

हिचकिचाहट के उन्होंने तुरन्त उसे मंजूर कर लिया।"१

अभी तक मुक्तिबोध छायावादी भावुकता से घिरे थे और रचना शैली भी वही थी। डा० जोशी के प्रभाव के कारण वर्गसोनीय - व्यक्तिवाद से प्रभावित हो रहे थे। परन्तु नेमि बाबू के प्रभाव से डा० जोशी भी गाँधीवादी आदर्शवाद से विमुख हुए एवं मुक्तिबोध भी अप्रभावित न रह सके। नेमि बाबू को गाँधीवाद थोथे धार्मिक आदर्शवाद का ही नमूना प्रतीत होता था। उनका विश्वास था कि मार्क्सवाद से ही वर्तमान राजनीतिक समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। इस तरह मुक्तिबोध भी मार्क्सवादी होते चले गये। सन् १९४२ के प्रथम और अन्तिम चरणों में मैं एक ऐसी विरोधी शक्ति के सम्मुख आया, जिसकी प्रतिकूल आलोचना से मुझे बहुत कुछ सीखना था। सुजालपुर की अर्द्ध नागरिक रम्य एकस्वरता के वातावरण में मेरा वातावरण भी - जो मेरी आन्तरिक चीज है - पनपता था। यहां लगभग एक साल में मैने पाँच साल पुराना जड़त्व निकालने की सफल-असफल कोशिश की। इस उद्योग के लिए प्रेरणा विवेक और शान्ती मैने एक ऐसी जगह से पाई, जिसे पहले मै विरोधी शक्ति मानता था। क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक - वैज्ञानिक अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ।"२

कवि मुक्तिबोध और नेमि बाबू की घनिष्ठता आये दिन बढती ही गयी दोनो ही व्युत्पन्न साहित्यिक थे। कुछ अंशों में दोनो परस्पर पूरक थे। मुक्तिबोध में भावुकता के साथ- साथ कला की प्रवृत्ति बढी-चढी थी, तो परस्पर नेमि बाबू कवि की अपेक्षा अधिक

---

१. राष्ट्रवाणी, मुक्तिबोध विशेषांक, जन०फर० १९६५ पृ० - २९४

२. तार सप्तक (१९६२, द्वितीय संस्करण) पृष्ठ - ४२

समर्थ आलोचक थे। नेमि बाबू की आलोचना के प्रखर प्रकाश में कवि मुक्तिबोध की पुरानी छायावादी भावुकता काफूर हो गयी। जो भी कुछ बाद में लिखा जाने लगा उसमें प्रगतिशील मूल्यों का जोरदार अंकन होने लगा।"१ तारसप्तक में संकलित मुक्तिबोध की कविताओं मे यह बदला हुआ स्वर सरलता से पहचाना जा सकता है।"२

तार सप्तक की उनकी कविताए (अधिकांश) शुजालपुर में ही इसी काल (नेमिबाबू के प्रभावकाल) मे लिखी गयी थी। इसके द्वारा एक नये काव्य पथ का निर्माण हो रहा था। भाषा, शिल्प, छन्द, बिम्ब, लय गीत आदि सब बड़े विस्तार से बहसें होती थी। अवकाश मिलने पर माचवे जी भी उज्जैन से शुजालपुर चले आते और तब इन बहसों का रंग और भी गहरा हो उठता। राजनीतिक सामाजिक, शैक्षणिक, सास्कृतिक प्रकार की विस्तृत चर्चाएं होती, अनेक कार्यक्रम बनाए जाते जिनमें एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम स्त्री- शिक्षाा का था जो पत्नियो को शिक्षित बनाने के उद्देश्य से कार्यान्वित किया गया। जिसमें अन्य महिलाओं को भी शिक्षा निर्देशन हुआ। सन १९४२ के आन्दोलन में सब एकाएक समाप्त हो गया। विरोधियों ने शारदा शिक्षा सदन पर हमला किया तथा संस्था के कार्यकर्ताओं के विचारों के प्रतीकं चीन का पुतला जलाया । यह सब मुक्तिबोध की आंखों के सामने ही घटित हुआ

---

१. राष्ट्रवाणी, मुक्तिबोध विशेषांक, कवि मुक्तिबोध के कुछ संस्मरण डा० नारायण विष्णु जोशी - पृष्ठ- १६-२६५

२. देखिए 'वीणा' 'कर्मवीर' मे तारसप्तक से पूर्व प्रकाशित रचनाओं में उनका स्वर तथा तारसप्तक की कविताएं विशेषतः पूंजीवादी समाज के प्रति और 'नाग-देवता' शीर्षक कविताएं।

जिससे उनकी विचार धारा को गहरा आघात लगा। और आखिर विरोधियों के इस प्रकार के उत्पातों तथा अन्य राजनैतिक कारणों से स्कूल बन्द कर दिया गया। संस्था के बन्द कर दिये जाने पर कवि मित्रों का यह संगठन भी बिखर गया। डा० जोशी बम्बई चले गये। नेमिचन्द जैन को उनके मित्र भारत भूषण अग्रवाल ने कलकत्ते बुला लिया और मुक्तिबोध उज्जैन चले गये। बाद में नेमिचन्द से यह मालूम होने पर कि मुक्तिबोध भी कठिनाई में हैं, भारत भूषण जी ने मुक्तिबोध को भी कलकत्ते बुला लिया। भारतभूषण जी उन दिनों कलकत्ता की एक व्यावासायिक संस्था में कार्यरत थे। मुक्तिबोध एक महीने तक भारत भूषण के साथ कलकत्ता रहे, लेकिन उनकेसाथ कठिनाई यह थी कि या तो वे अध्यापक बने या संपादक। व्यावसायिक संस्था में कार्य करना उन्हे पसन्द नही था। और कलकत्ता की स्थिति उन दिनो अध्यापन या संपादन कार्य के लिए अनूकूल नही थी। अतः मुक्तिबोध एक महीने बाद कलकत्ता से लौट आये।

मुक्तिबोध १६४२ सितम्बर में उज्जैन में माडल हाई स्कूल में अध्यापक हो गये। डा० प्रभाकर माचवे वही माधव कालेज में दर्शनशात्र के प्राध्यापक थे। उज्जैन का वातावरण उन दिनो क्रान्तकारी था। युवा साहित्यकारो के बीच दार्शनिक और राजनैतिक विचारों का मनन मन्थन चलता। एक ओर इस युवा साहित्यिक वर्ग को गांधी जी के भाव विचार प्रभावित करते तो दूसरी ओर क्रांतिकारी रूषी साहित्य भी बड़े चाव से पढा जाता। उस समय उज्जैन के वातावरण में सबसे अधिक महत्व की बात थी इन युवा साहित्यकारो के बीच राजनैतिक और दार्शनिक विचारो का मन्थन। शां, इब्सन, वर्गसा रसैल, मार्क्स, रवीन्द्रनाथ, गांधी--------- बड़ी उत्कृष्ठा से पढे जा रहे थे। अंग्रेजी राज में गैर कानूनी

रूषी क्रांति सम्बन्धी साहित्य और भारतीय क्रान्तिकारीयों के कारनामें की कहानियों में रोमांचकारी आकर्षण था। मगर गांधी जी का प्रभाव भी कुछ कम नही बल्कि कही अधिक था। माधव कालेज के सामने की पनवाड़ी की दुकान पर 'बिप्लव' (यशपाल, लखनऊ वालो का मासिक पत्र) बिकने लगा। ---------- हमारी बहस गांधी और मार्क्स को लेकर होती "संघर्ष मासिक (आचार्य नरेन्द्र देव द्वारा सम्पादित) के २६ जनवरी १६४० के अंक में मेरी 'गांधी और मार्क्स' नाम की ३०० पंक्तियों की कविता छपी थी। और मुक्तिबोध मेरी आध्यात्मिक शब्दावली का खास मजाक उड़ाया करते थें। ------ मुक्तिवोध रवीन्द्र नाथ को मूल मे पढ़कर अभिभूत थे । हमारी कई संध्याएं लम्वी - लम्बी तार्किक बहसों में बीती थी।"१

सन १६४२ का काल मुक्तिबोध की काव्य दिशा में एक महत्व पूर्ण चरण था- दूसरे शब्दों में काव्य का प्रगतिशील चरण था - जिसमें पुरानी छायावादी जड़ प्रतीत होने लगी थी और मुक्तिबोध की विचारधारा उन मान्यताओं को तोड़कर नूतन प्रयोग और प्रगति की ओर अग्रसर हुई। चिन्तन की दिशाएं विस्तृत होती गयी।

सन १६४२ में उज्जैन में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की गयी। इस प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना में मुक्तिबोध का प्रमुख हाथ था। इसके द्वारा उज्जैन के तरूण कलाकारों में विचारों का आदान प्रदान होता, मुक्तिबोध की बौद्धिक चेतना इन कलाकारों को चिन्तन एंव मनन का अवसन देती। मध्य भारत में उस समय साहित्यिकों के दो दल थे-रोमांसवादी और प्रगतिवादी। प्रथम में थे इन्दौर के सर्व श्री वीरेन्द्र कुमार जैन,

---

१. गजानन माधव मुक्तिबोध और उनकी साहित्य सेवा, नवभारत टाइम्स २ अगस्त १६६४

शांति प्रसाद वर्मा, प्रभाग चन्द्र शर्मा, रतन कुमार इत्यादि और दूसरे में थे सर्व श्री मुक्तिबोध, डा० नारायण विष्णु जोशी, प्रोफेसर प्रभाकर माचवे, तथा अन्य तरूण कलाकार। इन दो विभिन्न विचार धाराओं में एक्य स्थापना के उद्‌देश्य से इस लेखक संघ की बुनियाद डाली गयी थी जिसके मुख्य प्रेरणा श्रोत थें स्वंय गजानन माधव मुक्तिबोध। परिषदे बुलाई जाती, व्याख्यान मालाओं का आयोजन किया जाता, निबन्ध एंव विभिन्न साहित्यकारों से प्राप्त संदेश पढ़े जाते। प्रगतिशील लेखक संघ के अन्तर्गत जो पहली परिषद बुलाई गयी, उकसी अध्यक्षता केलिए दिल्ली से जैनेन्द्र जी को बुलाया गया था। अज्ञेय, पंण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांस्कृत्यायन तथा माखन लाल चर्तुवेदी के मध्य भारत के इस लेखक वर्ग को प्रोत्साहन देने वाले संदेश प्राप्त हुए। इस परिषद की कार्यवाही के महत्वपूर्ण परिणाम हुए। परिषद की कार्यवाही मे पढे गये लेखो का एक संकलन निकालने की योजना बनाई गयी। किन्तु दुर्भाग्य वश सकंलन पूर्ण न हो सका। संकलन का प्रकाशित होना इतना महत्वपूर्ण नही था जितना कि इस लेखक परिषद की कार्यवाही का परिणाम, जिसका मध्य भारत के कलाकारों पर व्यापक प्रभाव हुआ। विशेषतः उज्जैन के तरूण साहित्यिकारों में प्रगतिशील बौद्धिक चेतना का स्तर बढा और अब से आगे लेखकगण एकांत व्यक्तिवादी चिंतन एंव सृजन को छोड़कर सामूहिक चर्चाओं में भाग लेने लगे, तथा साहित्य में सामूहिक भावना प्रबल रूप धारण करने लगी।"[१]

---

१. राष्ट्रवाणी-मुक्तिबोध विशेषांक, जनवरी-फरवरी १६६५ उज्जैन में मुक्तिबोध-रघुनाथ -तावसे, पृष्ठ - ३००

समय-समय पर अनेक उल्लेखनीय साहित्यकारों को निमंत्रित किया गया, जिनसे प्रगतिशीलता पर विस्तृत चर्चाएं की गयी, जिसके फलस्वरूप सामाजिक चेतना का अधिक सहजता से ग्रहण किया जा सके। लेखकों में एक नया उत्साह पैदा किया गया, उनकी चिंतनधारा की दिशाएं अधिक व्यापक हो गयी। ये उल्लेखनीय साहित्यकार थे - सर्व श्री राहुल सांस्कृत्यायन, नई लेखिका हजारा बेगम, शान्तिप्रिय द्विवेदी, बाल कृष्ण शर्मा नवीन, यशपाल अंचल व सेठ गोविन्द दास। सन १९४४ के अन्त मे मुक्तिबोध ने इन्दौर में राहुल जी की अध्यक्षता में फासिस्ट विरोधी लेखक कान्फ्रेंस का भी आयोजन किया। मुक्तिबोध ने स्वयं भी इस कान्फ्रेंस में लेखको के दायित्व पर एक निबन्ध पढ़ा था।

मुक्तिबोध नूतन प्रतिभागी को प्रोत्साहन करते हुए अपने विचारो द्वारा उनके काव्य विकास पथ को प्रशस्त करते थे। श्री जगदीश नारायण बोरा, हरिनारायण व्यास, श्याम परमार इत्यादि प्रतिभाएं उनके विचारों से विशेष रूप से प्रभावित थें। देशायी आदि प्रसिद्ध नेताओं ने सम्मेलन को शुभकामनायें भेजी थी। इसी अवसर पर मुक्तिबोध ने अपनी 'लाल सलाम' कविता पढी जो बाद मे सोवियत भूमि पत्रिका में प्रकाशित हुई। इस कविता में रूसी क्रान्ति के प्रति श्रद्धा और उससे मानव मात्र के लिए आशाएं व्यक्त की गयी है।"[1]

१९४५ के मध्य में वायुसेना में भर्ती होने के लिए बंग्लौर गये लेकिन वहांसे एक महीने बाद ही वापस आ गये। १९४५ में ही उज्जैन से बनारस गये और वहां सितम्बर १९४५ से विलोचक शास्त्री के साथ 'हंस' के सम्पादन कार्य में लग गये। वहाँ से सम्पादन से लेकर डिस्पैच तक का कार्य करते थे और वेतन कुल ६०.०० रूपये था। उनका काशी

---

१. सोवियत भूमि पत्रिका, १९४४ में प्रकाशित

प्रवास सुखद नही रहा, जैसा कि उस प्रवास काल में अपने मित्रों को लिखे गये उनके पत्रों से संकेत मिलता है। परिवार की जिम्मेदारी थी, धन का अभाव था, और उनकी रचनाएं भी छपती नही थी। १५ अगस्त १६४६ को बनारस से लिखे एक पत्र में उन्होने अपने मित्र श्री जगदीश नारायण बोरा को लिखा था----- मेरा व्यक्तिगत प्रभाव है तो लेखक की हैसियत से हो सकता है। सम्पादकीय विभाग से मेरा संबंध नही सा है। दूसरी भी अन्य बाधाएं हैं। मुख्य बाधा सम्पादको की ही समझिए। मेरी चीजे जब भी नही छपती हैं और उनके अनुकूल चीजें लिखकर रूपया नही कमाना चाहता। इन्ही सब परिस्थितियों से विवश होकर मुक्तिबोध को बनारस भी छोड़ना पड़ा। बनारस से मुक्तिबोध जबलपुर आ गये और नवम्बर १६४६ से डा० एन० जैन हाईस्कूल में अध्ययन कार्य आरम्भ किया। यहॉ वह दैनिक 'जयहिन्द' में भी कुछ समय काम करते। उस समय जबलपुर में साम्प्रदायिक दंगे जोरो से शुरू हो गये थे। शहर में कर्फ्यू रहता था और मुक्तिबोध उस कर्फ्यू के सन्नाटे में रात की ड्यूटी देकर घर लौटते थे। श्रीमती शान्ताबाई के अनुसार -'जयहिन्द' में रात की ड्यूटी रहती थी, अतः कर्फ्यू में घर लौटना पड़ता था। अक्सर रात को दो-दो बजे तक घर लौटते थे। और वह भी तब जब चाय पीने की इच्छा होती थी, क्योकि कर्फ्यू के कारण कही भी चाय नही मिलती थी और चाय पीने के लिए घर लौटना आवश्यक हो जाता था। कर्फ्यू में इतनी- इतनी रात में प्रेस से घर लौटने मे डर भी बहुत रहता था लेकिन वह तो जिंदगी का जोखिम उठा कर भी अपने काम पर नियमित रूप से जाते थे, इसके कारण कई बार परेशानियॉ उठानी पड़ती थी। एक बार तो सिपाही से परिचित होने के कारण ही बाल- बाल बचे। उस दिन वह सिपाही ही उन्हे घर तक पहुँचा कर गया। बसन्त पुराणिक

के सम्पादन में जबलपुर से प्रकाशित 'समता' द्वैमासिक मे भी इन्होने प्रमुख योगदान दिया। इसका एक ही अंक प्रकाशित हो पाया, दूसरा अर्थाभाव के कारण प्रेस में ही बन्द पड़ा रहा। इतना सब करने पर भी मुक्तिबोध की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नही हो सकी। वेतन भी अच्छा नही था और 'जयहिन्द' से भी विशेष काम नही था। आखिर परिस्थितियों से विवश होकर मुक्तिबोध को जबलपुर भी छोड़ना पड़ा। कर्फ्यू का सन्नाटा, साम्प्रदायिक दंगे, रात की ड्यूटी और आर्थिक संघर्ष से मुक्तिबोध के कवि मानस में नयी- नयी अनुभूतियॉं जुड़ती गयी, जिससे उनकी कविताओं का स्वर दीर्घ और सबसे अलग दिखायी देने लगा। शमशेर लिखते हैं-------------

"उन दिनो जबलपुर में उनसे मेरा कभी-कभी मिलना होता था, और मै देखता था, कैसी मेहनत से हफ्ते बल्कि महीनो वे अपनी लम्बी कविताके टुकड़े को धीरे-धीरे चिन्तन और कल्पन की ऊर्जा से पुष्ट करते जोड़ते और उसकी अर्न्तयोजना को दृढ़ करते जाते। उनकी रचना से स्पष्ट लगता था कि वह और सबो से कितनी भिन्न अनोखी और गुम्फित भावना और कल्पना के कवि थे, यद्यपि कुछ खुरदुरे । उनका कवि व्यक्तित्व तब भी सबसे अलग और अकेला लगता था। मगर उनकी भावनाओं की जड़े मध्यवर्गीय समाज में हम सब की समस्याओं से उलझी हुई थी।"[१]

मुक्तिबोध ने इस बीच 'न्यूएज' मे भी कार्य किया पर प्रकट रूप से नही । वह उसमें गुप्त रूप से सर्कुलर निकालते थे। इसके अतिरिक्त महाकोशल चार्ल्स कालेज मे भी हिन्दी की कक्षाएं लेते थे। फिर भी स्थिति कुछ जम नही सकी और अन्ततः मुक्तिबोध को

---

१. चाँद का मुँह टेढ़ा है (प्र.सं.) पृष्ठ - १७

जबलपुर छोड़ना पड़ा । अनेक प्रयत्न करते हुए भी स्थिति में कोई सुधार संभव नही हो सका था। मुक्तिबोध रहते थे पेंचीदा चक्करदार घिनौनी गलियों में ही किसी एक अंधेरी गली के छप्परनुमा कमरें मे और उनकी कविताएं भी वैसी ही अंधेरी घुप्प होने लगी थी । श्री शरतचन्द्र मुक्तिबोध लिखते है- "उज्जैन छोड़ने के बाद भाई. साहब को पहली बार देख रहा था बहुत दुबले नजर आये थे। हम लोग मकान की ओर चले। त्रिपुरा गेट से धूमकर रिक्शा संकरी गलियों से गुजरने लगा। ऐसी पेंचीदा, चक्करदार घिनौनी गलियां। रिक्शा एक मारवाड़ी के घर सामने रूक गया। दिन में भी गली में काफी अंधेरा था। अंधेरे घुप्प जीने से हम लोग तीसरी मंजिल की छत पर पहुंच गये। "आ गया कमरा" भाई साहब ने कहा । लेकिन कमरा था कहाँ ? अटाला रखने का वह ऊपरी छप्पर था। एक पीला बीमार बल्ब पहले से ही जल रहा था। यहाँ भाई साहब की गिरस्ती पड़ी हुई थी----- कोको के कटर (ग्लास) सामने रखने के बाद कुछ कविताओं का पाठ हम लोगो ने किया। एक से एक अंधेरी घुप्प कवितायें थी, उनकी और मेरी भी।"१

अक्टूबर १६४८ में मुक्तिबोध जबलपुर से नागपुर आ गये। यहाँ पर सचिवालय के सूचना और प्रकाशन विभाग में नियुक्ति पा गये। कुछ समय उपरान्त उन्हे यह नौकरी भी छोड़नी पड़ी । डा० प्रभाकर माचवे उन दिनो नागपुर मे ही थी । उनके प्रयत्न से मुक्तिबोध की नागपुर रेडियो स्टेशन के समाचार विभाग में "न्यूज रीडर" के रूप में नियुक्ति हो गयी। वह नागपुर आकाशवाणी से समाचार प्रसारित करते थे, इसके अतिरिक्त

---

१. राष्ट्रवाणी, मुक्तिबोध विशेषांक, जनवरी-फरवरी १६६५, पृष्ठ - २८७

उच्च पदाधिकारियों के भाषणों की रूप रेखा भी अधिकतर वही तैयार करते थें। मुक्तिबोध की स्थिति में कुछ आशाएं दृष्टिगत होने लगी थी तभी उनका ट्रान्सफर भोपाल रेडियो स्टेशन कर दिया गया, माहवारी कान्ट्रैट पर मुक्तिबोध ने वहाँ जाना ओर विशेषकर कान्ट्रैट पर जाना - जिसमें नौकरी का कोई स्थायित्व नही था स्वीकार नही किया। उन्होने इस ट्रान्सफर का विरोध किया, परिणाम यह हुआ कि रेडियो के अधिकारियों से उनका झगड़ा हो गया, जिसके कारण उनको नौकरी छोड़नी पड़ी। और फिर पुनः प्रयत्न करने पर भी वहां नियुक्ति नही हो सकी। श्री भारत भूषण अग्रवाल ने इन शब्दो मे इस घटना का उल्लेख किया- सन १९५४ में मुक्तिबोध नागपुर आकाशवाणी में न्यूज रीडर के रूप में नियुक्त हुए । भोपाल राजधानी बनने पर न्यूज यूनिट भी नागपुर से भोपाल ट्रान्सफर कर दी गयी, साथ ही मुक्तिबोध को भी भोपाल ट्रान्सफर के आदेश दे दिये गये। मुक्तिबोध नागपुर नही छोड़ना चाहते थें इसलिए आरम्भ में इन्होने इस ट्रान्सफर का विरोध किया इस बात पर रेडियो के अधिकारियों से उनका झगड़ा हो गया जिसके कारण अन्त मे उन्हे रेडियो की नौकरी छोड़नी पड़ी। इस कहानी का एक रोचक प्रसंग यह है कि जब बाद में उन्हे मालूम हुआ कि आकाशवाणी भोपाल पर 'तारसप्तक' के उनके दो साथी मै (भारत भूषण अग्रवाल) और श्री गिरिजा कुमार माथुर काम कर रहे है। तब उन्हे अपने निर्णय पर दुख हुआ और मुझे एक निजी पत्र लिखा, जिसमें उन्होनें कहा कि किसी तरह मैं उनकी नियुक्ति भोपाल रेडियो पर करवा दूं। मैनें यह पत्र श्री गिरिजा कुमार माथुर को दिखाया और दोनों नें बहुत प्रयत्न किया कि उन्हें भोपाल रेडियो पर नियुक्त कर दिया जाये परन्तु उनकी पिछली इन्कारी के कारण न्यूज यूनिट के अधिकारी उनसे इतना असंतुष्ट हो गये थे कि उन्होनें हमारी बात नहीं मानी।

स्वयं मुक्तिबोध नें श्रीकान्त वर्मा को लिखा था - "लड़ाई लड़ लूंगा। जरा अच्छे ढंग से लड़ूं - यही इच्छा है। इसीलिए अपमान जनक शर्तों पर भोपाल जाना उचित न समझा।"

डा० प्रभाकर माचवे के अनुसार उन्होनें भोपाल जाना इसलिए अस्वीकार किया था कि वहां श्री भारत भूषण अग्रवाल और गिरिजा कुमार माथुर थे और उनके अधीन कार्य करना उनके (मुक्तिबोध) सम्मान व स्वाभिमान के प्रतिकूल था - इसलिए वेतन अच्छा होते हुए भी वह भोपाल नहीं गये। दो परस्पर विरोधी कारण उनके भोपाल न जाने के बताए जाते हैं। लेकिन हमें सत्य यह जान पड़ता है कि भोपाल उनकी नियुक्ति माहवारी कान्ट्रैक्ट पर की गयी थी, हर माह उनकी नियुक्ति नये सिरे से की जाती। यही माहवारी कान्ट्रैक्ट की बात उन्हें अपमान जनक प्रतीत हुई और इसी से उन्होंने इस ट्रांसफर का विरोध किया - जैसा कि उनकी पत्नी श्रीमती शांता मुक्तिबोध तथा पुत्र श्री रमेश मुक्तिबोध ने बताया। हमें उनके विरोध करने का यही कारण उचित भी प्रतीत होता है। इसी कारण रेडियों की नौकरी उन्हें छोड़नी पड़ी और फिर नये सिरे से नौकरी की तलाश होने लगी।

उन्हीं दिनों स्वामी कृष्णानन्द सोख्ता "नया खून" (साप्ताहिक पत्र) निकालते थे। उन्होनें मुक्तिबोध को 'नया खून' का सम्पादन करने के लिए आमंत्रित किया और अक्टूबर १९५६ से मुक्तिबोध 'नया खून' का सम्पादन करने लगे। यही से उनका 'पत्रकार' जीवन का आरम्भ हुआ। उनकी राजनैतिक चेतना को प्रखर बनाने में इस पत्र का बहुत हाथ था। इसमें वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सम्बन्धी लेख लिखते थे - समसामयिक घटनाओं की ही

---

१. मुक्तिबोध के पत्र 'माध्यम', जुलाई १९६५ पृ० - ३७

चर्चा परिचर्चा होती थी। यह एक क्रान्तिकारी राजनैतिक पत्र था - जिसमें तीव्र आलोचना - प्रत्यालोचना रहती। लेकिन इसके लिए मुक्तिबोध को बहुत अधिक मेहनत करनी पड़ती थी। वह उस पत्र में ही इतने व्यस्त रहते थे कि अपने साहित्यकार के लिए समय ही नहीं मिलता था। 'नया खून' का कोई निश्चित समय नहीं था अतः रात की ड्यूटी के अलावा दोपहर में भी अक्सर जाना पड़ता था। वेतन भी कुल मिलाकर २५०/- रूपये ही था, जो एक भरेपूरे परिवार के लिए कम ही था। 'नया खून' में अतिरिक्त कार्य और अधिक श्रम के कारण मुक्तिबोध का स्वास्थ्य भी चौपट हो गया था। नागपुर से श्रीकान्त वर्मा को उन्होनें पत्र में लिखा - "'नया खून' की नौकरी रात को डेढ़-डेढ़ दो-दो बजाती है। शरीर में शक्ति का अभाव है। जब तक नौकरी छोड़ नहीं पाता, तब तक हालत ऐसी ही रहने वाली है। स्वास्थ्य एकदम चौपट है और बड़ी-बड़ी फिक्रे लग गयी हैं।"[१]

समय के अभाव का उल्लेख भी उन्होनें श्रीकान्त वर्मा से किया है - नया खून भूत सरीखा पीछे पड़ गया है। समय का अभाव है।"[२]

मुक्तिबोध इस पत्र से मुक्ति चाहते थे, किसी अच्छी नौकरी की तलाश में थे, जिसमें उनके साहित्यकार को समय मिल सके। सूचना एवं प्रकाशन विभाग में रहते हुए

---

१. मुक्तिबोध द्वारा नागपुर से ३.०२.१९५८ को श्रीकान्त वर्मा को लिखे गये एक पत्र का अंश - मुक्तिबोध के पत्र 'माध्यम' जुलाई १९६५, पृ० - ४१

२. अक्टूबर या नवम्बर १९५६ में लिखे पत्र का अंश, 'माध्यम' जुलाई १९६५, पृ०-३७

मुक्तिबोध नें १६५३ में हिन्दी से एम०ए० किया। यद्यपि किया था मित्रों के बहुत अधिक और बार-बार आग्रह करने पर ही। मुक्तिबोध नें चार बार एम०ए० का फार्म भरा, लेकिन परीक्षा नहीं दी - उनका एक पेपर बिगड़ गया था, तो उन्होनें शेष परीक्षा देने से इन्कार कर दिया था। यदि श्री अक्षय कुमार जैन, राम कृष्ण श्रीवास्तव तथा परिवार के सदस्यों नें उन्हें शेष परीक्षा देने के लिए बाध्य न किया होता तो सम्भवतः वह वर्ष भी यों ही निकल जाता। उनके लिए एम०ए० की डिग्री का कोई महत्व नहीं था लेकिन नौकरी पाने के लिए तो आवश्यक थी। मुक्तिबोध परीक्षा में सफल हुए श्रेणी मिली द्वितीय। मित्रों को इससे उच्च श्रेणी की आशा थी। उनके मित्र श्री मनमोहन मदारिया नें मुक्तिबोध से कहा - "महागुरू आपको तो प्रथम श्रेणी मिलनी चाहिए थी। वह हंसे, बोले, गनीमत समझो जो पास हो गया। बाद में मित्रों से मालूम हुआ था कि उन्होनें जिस तरह प्रश्न पत्रों के उत्तर लिखे थे, उससे तो यही आशा था कि कोई परीक्षक उन्हें पास करने की धृष्टता नहीं करेगा। उन्होनें प्रश्न पत्रों के जवाब क्या लिखे थे, प्रश्नों की त्रुटियां और बेतुकी बतलाई थी। किसी प्रश्न के जवाब में पूरी कांपी रंग डाली थी तो किसी प्रश्न के जवाब में नाम पर कोरा पृष्ठ छोड़ दिया था। इस स्थिति में उनका द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हो जाना यकीनन आश्चर्य की बात थी।"[1]

राजनाद गांव में कालेज खुलने पर श्री शरद कोठारी, अटल बिहारी दुबे तथा प्रमोद कुमार वर्मा के सहयोग से जुलाई १६५८ से दिग्वजय कालेज में प्राध्यापक रुप के में मुक्ति

---

१. गजानन माधव मुक्तिबोध, 'सीढ़ी और सांप का खेल - श्री मनमोहन मदारिया - वीणा - श्री मुक्तिबोध स्मृति अंक, नव० दि० पृष्ठ - ३४

-बोध की नियुक्ति हो गयी। इस प्रकार मुक्ति बोध को नागपुर के जीवन से मुक्ति मिली। मुक्ति इसलिए, क्योकि नागपुर में रहते हुए मुक्ति बोध को बहुत ही शारीरिक एवं मानसिक यातनाएं सहनी पड़ी। जबलपुर में यदि उन्हें साहित्यिक विरोध सहना पड़ा तो नागपुर में राजनैतिक विरोधियों ने उन्हें कम्युनिष्ट करार दिया था। कम्युनिष्ट पार्टी के सदस्यों से मुक्तिबोध की भिन्नता थी। मार्क्सवादी विचारों के मासिक पत्र 'हंस' के संचालक मण्डल में रह चुके थे उज्जैन में प्रगतिशील होकर संघ के निर्माण में उनका प्रमुख योगदान था। विरोधियों को उन्हे वाम दल का करार देने के लिए इससे अधिक आधार और क्या मिल सकते थे। मुक्ति बोध संघ को घिरा हुआ अनुमान करने लगे थे। उन्होने अधिक लोगो से मिलना जुलना बंद कर दिया था। इस संबंध में सभा सम्मेलनो में भी जाना उनके लिए कठिन हो गया था। इस संबंध में श्री मनमोहन भदौरिया लिखते है --------------

"जब तक वह नागपुर में सूचना विभाग और आकाशवाणी की सेवाओं में रहे उनके लिए मुक्त होकर सांस लेना गुनाह था। कतिपय विघटनकारी अच्छे तत्व उनके पीछे पड़े रहते थे और उनकी सामान्य सी गतिविधियों में राजनीतिक षडयन्त्र सूंघ लेते थे उन विरोधी तत्वों का अच्छा खांसा गिरोह बन गया था। जिसमें अधपढ पत्रकार, हीन भावना से ग्रस्त अधिकारी और अफसर साहित्यिक सभी सम्मिलित थे। अपने बीवी बच्चों की रोटी बचाये रखने के लिये मुक्तिबोध ने कई अत्याचार चुप रहकर सहन किये। उन्हे उन दिनों बहुत सतर्क रहना पड़ता था - अक्सर वह अपने गिने - चुने दोस्तों के बीच रहते और सभा - समितियों में शायद ही भाग लेते। यहाँ तक की उन दिनों यशपाल की उपस्थिति में जो

साहित्यिक गोष्ठी आयोजित की गयी उसमें भी वह न आ सके।"१

मैनें पाया उनके नेत्र अस्थिर और सशंक है और इधर-उधर चारों ओर घूमते रहते हैं। लोगों पर घिरे होने पर वह सतर्क होकर बात करते हैं। मुझे वह आवश्यकता से अधिक सर्तक लगे। वाद में भी मैंने देखा दफ्तरों के वातावरण में या सभाओं - गोष्ठियों में जाकर मुक्तिबोध आत्म सजग हो जाते थे, जैसे घिरा हुआ हूँ या सुरक्षित हूँ का निर्णय कर पाना कठिन हो रहा है। मुक्तिबोध उनदिनों सच-मुच घिरे हुए थे - ऐसे साहित्यिकों से जो साहित्यिक से अधिक सरकारी नेताओं के दलाल थे और मुक्तिबोध पर उनकी खास नजर होती थी।"२

लोग उनके विषय में तरह- तरह की बाते करते थे, लेकिन मुक्तिबोध कभी उनकी चिंता नही करते थें। श्रीकांत वर्मा एक त्रैमासिक पत्रिका "नयी दिशा" निकालते समय मुक्तिबोध का प्रमुख सहयोग था मुक्तिबोध की एक नयी कविता प्रकाशित हुई- " कहने दो उन्हे जो वे कहते है" यह कविता एक लिखा प्रत्युत्तर थी उन सज्जनो को थी, जिसमें एक स्थल पर कहा गया था- कह दो कि हमारा थूक अगर सचमुच कही खा ले तो, चाट ले तो, तुम्हारे दिमाग के जहरीले कीटाणु मर जायेगें।

नागपुर में मराठी - हिन्दी सम्बन्धी झगड़े भी बहुत हुआ करते थे और मुक्तिबोध को मराठी भाषी और हिन्दी का साहित्यकार होने के कारण दोनो ओर की मार सहनी

---

१. गजानन माधव मुक्तिबोध : "सीढ़ी और साँप का खेल" श्री मनमोहन मदारिया, वीणा : मुक्तिबोध स्मृति अंक, नव०-दि० १६६४, पृ० - ३३

२. ब्रह्मराक्षस का शिष्य - श्रीकान्त वर्मा, ज्ञानोदय, सि० १६६५, पृ० - ११

पड़ती थी । मराठी वाले उन्हे हिन्दी का लेखक समझकर उपेक्षा करते थे और हिन्दी वाले मराठी कह कर टालते थे माचवे जी के शब्दो में इस तरह वह दोनो तरफ से गये - मारे गये गुलफाम वाली कहावत चरितार्थ होती है। मुक्तिबोध इन सब उपेक्षाओं को चुपचाप सहते रहे, विरोध में वह कुछ नही कह पाये। मुझे भी इस झगड़े के कारण बहुत सहना पड़ा - पर मै तो धाकड़ किस्म का आदमी हूँ - अपने मित्रो के कथनानुसार कैक्टस की तरह अपने समस्त कांटो सहित पत्थर में भी उठ खड़ा होता हूँ। पर मुक्तिबोध के स्वभाव में यह बात नही थी। वह किसी का विरोध नही कर पाते थे। उन्होने हिन्दी मराठी संघर्ष के विरोध में कुछ नही कहा । यह उनकी स्वभाव की कोमलता ही थी जो उन्हे किसी को कुछ नही कहने देती थी। नागपुर में रहते हुए मुक्तिबोध को आर्थिक कष्ठ भी बहुत उठाना पड़ा । वेतन कुल मिलाकर २००/२५० और खर्च उठाना पड़ता था, एक पूरे परिवार का जिसमें माता - पिता, पत्नी बच्चे व स्वंय समेत ८-१० प्राणी थें, इसके अतिरिक्त आये दिन बच्चों की बीमारी। मुक्तिबोध कर्ज से लद गये थे - एक अर्थ में थक गये थे, कर्ज लेते थे- जिसके कारण कटु अनुभूतियॉं होती थी, जिनका थोड़ा सा जिक्र उन्होने श्रीकांत वर्मा को एक पत्र में किया है - वैसे मै नागपुर एकदम छोड़ूँ कैसे। बाल बच्चेदार आदमी होने के आलावा मेरे माता पिता भी है और मुख्यतः कर्ज लदा है। इस कर्ज को अदा कैसे करू - इसी की धुन में रहता हूँ। पठानो से कर्ज लेते - लेते जब हिन्दुओं से लेने गया तो पाया कि वे पठानो से भी बुरे होते हैं। बड़े पाजी। कुछ न पूछो । रेडियो की नौकरी की लगभग एक चौथाई रकम ब्याज मे जाती थी। अभी मैने सिर्फ सौ रूपये चुकाये है। कुछ

महीनो में और दूँगा। आगे चलकर मै इन लोगो पर उपन्यास अवश्य लिखूँगा।"१

"उनकी पुत्री सरोज जिसकी आयु सात वर्ष की थी, की मृत्यु भी नागपुर मे ही हुई। मुक्तिबोध को अपनी इस पुत्री से बहुत स्नेह था अतः उसकी मृत्यु से उनके ह्दय को बहुत बड़ा आघात लगा। इस प्रकार मुक्तिबोध को नागपुर के जीवन में बहुत अधिक कष्ट झेलने पड़े। अब तक के जीवन में सबसे अधिक परेशानी नागपुर में उठानी पड़ी। बच्चो की बीमारी अलग परेशान रखती थी। वेतन कम होने के कारण परिवार के इतने सदस्यों का भरण - पोषण बड़ी कठिनाई से हो पाता था। अत्यधिक काम करते रहने से मुक्तिबोध जी का स्वास्थ्य भी चौपट हो गया था।"२

रचनात्मक उत्कर्ष का काल एवं जीवन की विसंगत स्थितियाँ -

नागपुर मुक्तिबोध के जीवन का संघर्ष काल था तो उनकी कविताओं का महत्वपूर्ण काल भी यही था। इस काल में मुक्तिबोध ने कुछ बहुत ही श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण लम्बी कविताएं लिखी। 'अंधेरे में' जैसी सशक्त कविता इसी काल में लिखी गयी थी। नागपुर प्रवास काल मे उनकी पत्रकारिता की अर्न्तनिहित प्रतिभा को भी प्रस्फुटित होने का अवसर मिला उनकी राजनैतिक चेतना को अधिक प्रखर बनाने में भी 'नयाखून' का बहुत हाथ था। जिसके माध्यम से वह जन आन्दोलन को उभारने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकें।

---

१. अक्टूबर या नवम्बर १९५६ में लिखा पत्रांश, मुक्तिबोध के पत्र - श्रीकांत वर्मा, 'माध्यम' जुलाई १९६५, पृष्ठ - ३८

२. रायपुर में श्रीमती शांता मुक्तिबोध से हुई वार्ता का अंश- गजानन माधव मुक्तिबोध व्यक्तित्व एंव कृतित्व द्वारा जनक शर्मा, पृष्ठ - २५

मुक्तिबोध इस संघर्ष से हारे नहीं थे फिर भी नागपुर में उनका मन नही लगता था। उन्होने अपने मित्र श्री वीरेन्द्र जैन को लिखा- "हालत तो खराब हैं हीं पर जिदंगी में बड़ी जानदारी है। इसी के सहारे जहाँ बनता है, दुलत्यिां झाड़ देता हूँ। भौतिक असफलताओं की चट्टानों पर टकराकर भी हिम्मत नही हारा हूँ। खुदा की फजल से चार बच्चे हैं, सबके प्यारे हैं लिखाई खूब चल रही है, डटकर भले ही प्रकाश मे न आये। --------मेरा अब नागपुर में मन नहीं लगता। ------- बड़ी नौकरी चाहिए। कम से कम साढ़े तीन सौ तक की। मध्य भारत पूछता नही उसकी तो बात ही छोड़ो----------।"[1]

अन्ततः मुक्तिबोध नें १६५८ में नागपुर छोड़ दिया और राजनांदगांव के दिग्विजन कालेज में प्राध्यापक होकर आ गये। नागपुर में रहते हुए मुक्तिबोध ने प्रसाद की कामायनी पर एक बहुत महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी - 'कामायनी - एक पुर्नविचार'। प्रसाद काव्य के आलोचना जगत में यह पुस्तक अपने प्रकार की अकेली है। बहुत महत्वपूर्ण लिखी कविताएं भी इसी काल में लिखी गयी पर मुक्तिबोध को यहां अपने लेखन कार्य के लिए बहुत कम समय मिलता था।

राजनांदगांव - एक कस्बानुमा शहर है - छोटा सा कालेज और बौद्धिक वातावरण भी ना कुछ के बराबर, फिर भी मुक्तिबोध को यहां आकर प्रसन्नता हुई यहां का वातावरण सुखद लगा। मानसिक तनाव भी कम हुआ। यहां आने के पश्चात् उन्होनें अपने मित्र श्री वीरेन्द्र कुमार जैन को लिखा "जिन्दगी में काफी ठुकाई-पिटाई के बाद अब राजनांद आ पहुंचा हूँ। यहां का कालेज नया है। सभी लोग सहयोग की भावना से प्रेरित हैं। काफी

---

१. २०.०६.१६५२ को लिखा पत्रांश राष्ट्रवाणीः मु० विशे० जन०फर० १६६५ पृ० २८०

आराम से हूं। पिछली कशमकश और मानसिक तनाव अब यहां नहीं है इसलिए यहां का वातावरण सुखद है। सोचता हूं राजनांद गांव मुझे लाभप्रद होगा।"१

एक पत्र में मुक्तिबोध नें श्री के० पार्थ सारथी को लिखा - "सन् १६५८ में प्राध्यापक पद पर नियुक्त होने के बाद ही मुझे कुछ आराम मिला। श्री शरद कोठारी व प्रिंसिपल श्री किशोरी लाल शुक्ल के प्रयत्नों से ही मेरे जीवन का यह नया द्वार खुला और उन्हीं की सद्भावनाओं एवं सहानभूति नें मेरी बुझती हुई जीवन रोशनी को प्रज्ज्वलित किया।"

प्रारम्भ में राजनांद गांव में मकान की व्यवस्था न होने के कारण मुक्तिबोध बसंतपुर में रहते थे। लगभग एक वर्ष के पश्चात् इन्हें कालेज की परिधि में ही क्वाटर मिल गया। कालेज एक पुराने किले में स्थित था और उसी किले के एक भाग में प्राध्यापकों के निवास की व्यवस्था की गयी थी। मुक्तिबोध नें अपनी एक अप्रकाशित रचना "झरने पुराने पड़ गये" में इसका उल्लेख किया है। - कविता की कुछ पंक्तियां --

आज उसी एक किले के हिस्से में

मेरा यह कालेज है

टेबल और मेज हैं

आर्टस और साइन्स कामर्स है

मुझको यह हर्ष है

कि उसी किले के एक महत सिंह द्वार के

---

१. ३१.०८.५८ का पत्रांश - राष्ट्रवाणी, मु० विशे०, जन०फर० १६६५, पृ० २८१

ऊपर और नीचे के कक्षों में

मुझको बसाया गया है

क्वाटर्स बन गये।

श्री हरिशंकर परसाई नें उनके मकान की स्थिति और वातावरण का चित्रण इस प्रकार किया है – "राजनांद गांव में तालाब के किनारे पुराने महल का दरवाजा है – नीचे बड़े फाटक के आस-पास कमरे हैं दूसरी मंजिल पर एक बड़ा हाल और कमरे, तीसरी मंजिल पर कमरे और खुली छत। तीन तरफ से तालाब घेरता है। पुराने दरवाजे और खिड़कियां, टूटे हुए झरोखे, कहीं खिसकती हुई ईंटें, उखड़े हुए पलस्तर की दीवारे तालाब और उसके आगे विशाल मैदान। शाम को जब ज्ञान रंजन और मैं तालाब की तरफ गये और वहां से धुंधलके में उस महल को देखा तो एक भयावह रहस्य में लिपटा हुआ वह नजर आया।"१

मुक्तिबोध के इस मकान का खण्डहरनुमा वातावरण उदासी पैदा करता था, फिर भी मुक्तिबोध को यह स्थान पसन्द था। जिस हिस्से में मुक्तिबोध रहते थे, वहां कभी राजा की महफिल सजती थी, नाच गाने इत्यादि होते थे। मुक्तिबोध को वहां रहते हुए विचित्र-विचित्र अनुभव होते थे। हरिशंकर परसाई नें वहां के वातावरण के अनुभव सुनाते हुए कहा – "जहां आप बैठे हैं वहां किसी समय राजा की महफिल जमती थी। खूब रोशनी होती होगी, नाच-गाने हाते होंगे। तब यहां ऐश्वर्य की चकाचौंध थी। कुछ भी कहो पार्टनर "फ्यूडलिज्म" -- (सामन्तवाद) में एक शान थी। .... बरसात में आइये यहां इस कमरे में

---

१. मुक्तिबोध के साथ – हरिशंकर परसाई, धर्मयुग ८ नवम्बर १९६४, पृ० ३२

सोइये। तालाब खूब जोर पर होता है, सांय-सांय हवा चलती है और पानी रातभर दीवारों से टकराकर छप-छप करता है ..... कभी कभी तो ऐसा लगता है, जैसे कोई नर्तकी नाच रही हो, घुंघरूओं की आवाज सुनाई पड़ती है। पिछले साल शमशेर आये थे। हम लोग दो-तीन बजे तक सुनते रहे .... और पार्टनर, बहुत खूबसूरत उल्लू .... मैं क्या बताऊं आपसे, वैसा खूबसूरत उल्लू मैनें कभी देखा ही नहीं .... कभी चमगादड़े घुस आती हैं।"१

मुक्तिबोध को महल का सबसे बड़ा और खुला भाग दिया गया था, जिसकी दीवारों से थपकियां लेता रानी सागर और घने कुञ्ज मुक्तिबोध को बहुत प्रिय थे। उनके कई साथियों नें उन्हें इस मकान को छोड़नें के लिए भी कहा, लेकिन मुक्तिबोध को इसका एकान्त प्रिय था और इसका वातावरण उन्हें अपनी लम्बी कविताओं के लिए उपयुक्त प्रतीत होता था - "बड़ा किलेनुमा मकान। कई कमरों में भुतहा और अकेलापन लगता ही है। कई बार सबने छोड़नें की सलाह दी, लेकिन मैनें नहीं छोड़ा........... हाँ, यह समझ लो कि लम्बी कविताएं लिखने के लिए यह बड़ा उपयुक्त मकान है।"२

मुक्तिबोध यहां अकेलापन महसूस करते थे, उपयुक्त बौद्धिक वातावरण न होने के कारण और बन्धु मित्रों का साथ छूट जाने के कारण, फिर भी लिखने पढ़ने का अवसर यहां अधिक मिलता था, इसलिए यह स्थान उन्हें प्रिय था।

---

१. मुक्तिबोध के साथ हरिशंकर परसाई - धर्म युग ८ नवम्बर १९६४, पृ० ३२

२. मुक्तिबोध के इर्दगिर्द बातचीत के बिखरे टुकड़े - रमेश वक्षी - वीणा : नव० दिस० १९६४, पृ०-४५

यहां रहते हुए मुक्तिबोध नें एक पुस्तक भी लिखी 'भारत - इतिहास और संस्कृति'। जिसका कुछ भाग एक छोटी सी पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ और जो मध्य प्रदेश शासन द्वारा सरकारी स्कूल के छात्रों के लिए पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत की गयी। परन्तु भारी विरोध के फलस्वरूप पुस्तक मध्य प्रदेश शासन द्वारा प्रतिबंधित कर दी गयी। इस घटना नें मुक्तिबोध को तोड़कर रख दिया। घोर मानसिक संत्रास में ये दिन गुजर रहे थे और उन्हीं दिनों मुक्तिबोध नें अपनी लम्बी कविता अंधेरे में पूरी की। स्वास्थ्य तो नागपुर में ही खराब हो गया था और इस पुस्तक काण्ड नें उनको हिला कर रख दिया था। उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था और वे अचानक ७ फरवरी १९६४ को एकाएक गिर पड़े तभी उन पर पक्षाघात का पहला प्रहार हुआ था। इसके बाद उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ और अंत में ११ सितम्बर १९६४ को रात ९ बजकर ५ मिनट पर उनका देहावसान हो गया।

अध्याय - तृतीय

मुक्तिबोध का काव्य विकास - जन चेतना के संदर्भ में

काव्य विकास :-

कोई भी कवि एकाएक रचना करना नहीं प्रारम्भ करता है। बचपन से ही रचना के बिन्दु मस्तिष्क में बने रहते है और वे प्रारम्भ में ऊबड़-खाबड़ रूप में प्रकट होते हैं। निश्चित रूप से यह बात मुक्तिबोध के सम्बन्ध में भी रही होगी परन्तु उनकी कोई भी प्रकाशित अथवा अप्रकाशित रचना १६३५ के पूर्व की नहीं प्राप्त होती है। "मुक्तिबोध ने सन् १६३५ से नियमित रूप से काव्य रचना आरम्भ कर दी थी।"१

१६३५ से मुक्तिबोध उस समय प्रकाशित होने वाली विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में यथा - 'वाणी', 'कर्मवीर', 'वसुधा', 'समता', 'कमला', इत्यादि में इनकी रचनाएं प्रकाशित होने लगी थीं। विकास व चिन्तन की दृष्टि से मुक्तिबोध के रचना -क्रम को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं --

प्रथम सन् १६३५ से ४० का आरम्भिक काल अथवा छायावादी शैली का अनुकरण काल। इस समय मुक्तिबोध की रचनाओं में छायावाद का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है परन्तु किसी सुस्पष्ट भाव - भूमि का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। मुक्तिबोध रोमांटिक प्रकृति के थे और रोमांस को वह मनुष्य का प्रकृत गुण मानते थे। 'साहित्य के दृष्टिकोण' नामक एक लेख में उन्होनें इसकी चर्चा करते हुए लिखा है-"मनुष्य की प्रकृति में क्या रोमांस का स्थान नहीं है? रोमांस तो प्रवहमान जीवन धारा Self – Assertion है। जिस तरह बसन्त ऋतु वृक्षों के अन्दर तरूण ओज फूल पत्तियों का सृजन करता है वैसे ही वहीं

---

१. तारसप्तक, द्वि० संस्करण, पृ० ४२

तरूण ओज स्त्री-पुरूष के अर्न्तजगत में रोमांस उत्पन्न करता है, उनके स्वस्थ शरीर में वह नवजीवन बनकर बहने लगता है।"१

इस प्रकार उनके ही वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी प्रारम्भिक भावभूमि छायावाद से प्रभावित रही है।

द्वितीय १६४० का विकासमान काल अथवा वर्गसोनिय एवं मार्क्सवादी आस्था का काल। १६४० तक आते-आते मुक्तिबोध कुछ परिपक्व हो गये थे। साथ ही समाज एवं साहित्य में मार्क्सवाद का प्रभाव भी दिखाई पड़नें लगा था। १६३६ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' का प्रथम अधिवेशन लखनऊ में प्रेमचन्द्र की अध्यक्षता में हो चुका था। इसके साथ ही साहित्य में मार्क्सवाद की स्थापना भी हो गयी। अतः १६४० के बाद की रचनाओं में स्पष्टतः मार्क्सवादी जीवन दर्शन परिलक्षित होने लगा।

तृतीय १६५० के पश्चात् का परिपक्व व प्रौढ़ रचनात्मक काल अथवा लम्बी कविताओं का काल। इस समय देश आजाद हो चुका था। अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त होकर देश की चुनी हुई सरकार शासन कर रही थी, परन्तु समाज की जटिलताएं एवं अन्तर्द्वन्द्व कम होने की जगह दिनोदिन अधिक बढ़ते ही जा रहे थे। समाज को जो अपेक्षाएं थी वे खोखली साबित हुई। मुक्तिबोध भी कहीं गहरे से प्रभावित हो रहे थे। अतः समाज का कम न होता हुआ अन्तर्द्वन्द्व एवं जटिल परिस्थितियां ही शायद उनकी कविताओं में परिलक्षित होती हैं, और वे 'परम अभिव्यक्ति' तथा 'आत्म पहचान के लिए व्याकुल होकर कभी न खतम होने वाली कविताएं लिखनें लगे।

छायावादी जीवन दृष्टि और मुक्तिबोध :-

मुक्तिबोध की छायावादी रचानाओं के पीछे किसी सुस्पष्ट भावभूमि के दर्शन

---

१. 'कमला' जून, १६४१, पृ० २६०

नहीं होते। मुक्तिबोध रोमांटिक प्रकृति के थे और रोमांस को वह प्राकृतिक गुण मानते थे। एक किशोर हृदय सौन्दर्य एवं प्रेम, विरह और मिलन के गीत गाता है और कल्पना के आकाश में विचरण करता है - बस इन रचनाओं में मुक्तिबोध की चिंतन-धारा यहीं तक सीमित है। छायावादी काव्य का सौन्दर्य भी मुक्तिबोध की इन रचनाओं में प्रस्फुटित नहीं हो पाया है। मुक्तिबोध नें छायावादी शिल्प का अनुकरण किया है, लेकिन ऐसा लगता है कि वे इस शिल्प के सौन्दर्य को पकड़नें में असमर्थ रहे हैं। अतः उनकी रचनाओं में छायावादी शिल्प तो हैं लेकिन छायावाद का शिल्प सौन्दर्य नहीं है। मुक्तिबोध नें एक शैली का अनुकरण किया परन्तु छायावाद शैली विशेष न होकर और भी कुछ था। छायावाद एक नूतन सांस्कृतिक चेतना का काव्य था, जिसकी एक सुनिश्चित दार्शनिक पृष्ठभूमि थी। दीनानाथ शरण ने लिखा है - "निश्चय ही ये छायावादी कवि कोरी भावुकता, प्रेम और सौन्दर्य विलास में डूबने वाले प्राणी न थे। वे एक साथ ही सफल कवि भी थे, उच्चकोटि के विचारक और दर्शनिक भी।"[१]

अभिप्राय यह है कि स्वच्छन्दतावाद एक विशिष्ट युग की मनः स्थितियों की देन है जिसकी पृष्ठभूमि में दार्शनिक चिन्तन धारा है, जिसमें प्रेरणा की विराट चेतना है और जो शिल्प और काव्य रूपों में परम्परा से हटकर लिखी गयी है। विराट संचेतना, प्रकृति की पृष्ठभूमि और मानवतावादी स्वर छायावादी कविता में प्रचुर मात्रा में है तथा यथार्थ के धरातल में भी यह स्पर्श करती है।

छायावादी काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह मानवीय नींव पर खड़ा है। छायावाद का मानववाद संकीर्णता की नींव पर नहीं खड़ा है। उसका मानववाद भारतीय मनीषा की सार्वभौम चिंतन पद्धति पर ही अवस्थित है। छायावादी काव्य के प्रणेता

---

१. हिन्दी काव्य में छायावाद - डा० दीनानाथ शरण, पृ० १६०

प्रबुद्ध चेता कलाकार थे। इनके आत्मचिंतन पर महात्मा बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द, मार्क्स और महात्माँ गाँधी के दार्शनिक विचारों और सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा था। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी की रचनाओं में इसे सहज ही देख जा सकता है। छायावादी काव्य के कला पक्ष के साथ चिंतन पक्ष भी बहुत मजबूत है। श्री सिद्धेश्वर प्रसाद के कथनानुसार - "यहाँ पर उपनिषद की जिज्ञासा, बुद्ध की करूणा और दुखवाद की भावना, तिलक की नैतिकता, रवीन्द्र और हीगेल का सौंदर्यवाद डार्विन का विकासवाद, रूषो की जनतंत्रानुमोदित व्यक्ति स्वातंत्र और समानता की भावना तथा अंग्रेजी रोमांटिक काव्य धारा की कल्पना की उड़ान के एक साथ दर्शन होते हैं।"१

मुक्तिबोध नें छायावाद की उपर्युक्त विशिष्टताओं को अपनी रचनाओं में नहीं उतारा है, दूसरे शब्दों में इसकी चेष्ठा थी, प्रयास नहीं किया है, उन्होनें छायावाद के सौन्दर्य एवं प्रेम पक्ष को ही अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। संभवतः उस समय उन्हें मात्र यही अभीष्ट रहा हो। इस काल की उनकी रचनाओं की कतिपय पंक्तियाँ देखिए --

आसमान में काले बादल
पृथ्वी पर तूफान उठा था
उसी रात को जान सुरक्षित
तुम आयी थी पास हमारे।
कूक उठी थी मीठी कोयल
आसमान में काले बादल।

----

१. छायावादोत्तर काव्य - श्री सिद्धेश्वर प्रसाद, पृ० १६

उपर्युक्त कविता में किसी सुन्दर भाव की व्यंजना नहीं हुई है और न ही चिंतन की कोई भूमि दृष्टिगत होती है। इन पंक्तियों की तुलना में प्रसाद की निम्न पंक्तियाँ देखें --

क्या तुम्हें देखकर आते यों
मतवाली कोयल बोली थी।
उस नीरवता में अलसाई
कलियों नें आंखें खोली थी।

यद्यपि प्रसाद की उपर्यक्त पंक्तियां 'काम' के संदर्भ में कही गयी है फिर भी मुक्तिबोध की पंक्तियों में निहित भाव सामंजस्य इनमें देखा जा सकता है, लेकिन भाषा शैली का सौन्दर्य एवं व्यंजकता जो प्रसाद की पंक्तियों में है, मुक्तिबोध की पंक्तियां अछूती रह गयी हैं। छायावादी कवियों की रचना प्रक्रिया की यह विशिष्टता रही है कि जहाँ भी उन्होनें प्रकृति अथवा सौन्दर्य का चित्रण किया है, उसे एक विराट एवं सुन्दर रहस्य के रूप में चित्रित किया है। उदाहरण के लिए पंत अथवा प्रसाद की कोई भी पंक्तियां देखी जा सकती हैं। उन पंक्तियों में जिस सौन्दर्यपरक रहस्य की सृष्टि हुई है, मुक्तिबोध की पंक्तियों में नहीं हो सकी है। इसमें मुक्तिबोध के कवि का रोने, खोने, धोने, सोने के अन्त्यानप्रास का आग्रह ही विशेष जान पड़ता है यथा -

सखि सांझ बेला में हंसी तुम जब कि रोने जा रहा मैं,
चरण मणियां चुन रही हो जबकि खोने जा रहा मैं,
जबकि धोने जा रहा मैं मृत्तिका कन प्रिय जलधि में,
नाचती तुम ताल गति से जबकि सोने जा रहा मैं।

वास्तव में मुक्तिबोध की पंक्तियां स्पष्ट नहीं हैं अतः भाव भी स्पष्ट नहीं होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्तिबोध नें प्रकृति एवं सौन्दर्य को एक रहस्यात्मक रूप देने का जबरदस्ती का प्रयास किया है। छायावादी कवियों में जो मानवतावादी चिंतन है, मानव कल्याण की भावना अभिव्यक्त हुई है, वह मुक्तिबोध के कथनों में नहीं है।

मुक्तिबोध की मराठी भाषा में भी लिखित एक रचना उपलब्ध हुई है। 'वनराणी' शीर्षक से यह रचना उज्जैन के माधव कालेज की पत्रिका में छपी थी। रचना इस प्रकार है --

ला दूर-दूर गड निलया-निलया गिरि श्रेणी
वाहते तेथूनी एकाकी निर्झरिणी
किति प्रशांत हिरण्याचर मनोरम कांठी
गाऊँ या वसुनिया तुम्या गोड़ आठवती

जब तुम्या दृष्टिची शरद चंद्रिका हंसली
मधु मिलन यामिनी प्रथम मधुर आन्धार

तो तुमया भवनोत्कट निश्वासे सुरमित
आठने परस्पर स्पर्श प्रथम, अनिवार।

मुक्तिबोध की उपर्युक्त रचनाओं में छायावादी शिल्प विधान है। चिर, अलि, मधु, मधुर, री, इत्यादि शब्दों का प्रयोग उसी का अनुकरण है - दीपक प्रतीक भी छायावाद के अनुकरण पर लिया गया है। कुछ कविताएं तो छायावादी कविताओं का अनुकरण प्रतीत होती हैं "यथा मैं और तू" कविता की पंक्तियां निराला की "तू और मैं" का अनुकरण लगती है। मुक्तिबोध ने छायावाद के शिल्प का अनुकरण किया है परन्तु वह भी पूर्ण सफल

नहीं हुआ। छायावादी चिंतन के तो कहीं दर्शन ही नहीं होते हैं। इस तरह छायावाद की कोई विशेषता मुक्तिबोध की कविताओं में नहीं दिखती केवल अनुकरण ही हैं। एक भावुक किशोर की रोमांटिक प्रवृत्ति का अनुकरणात्मक रूप ही इनमें दिखता है।

इसका कारण बहुत स्पष्ट है। जिस समय मुक्तिबोध रचना कर रहे थे उस समय छायावाद अपने उतार पर था और छायावादी कवि स्वयं यथा निराला आदि नें मार्क्सवाद का पथ प्रशस्त करना शुरू कर दिया था। ऐसी स्थिति में मुक्तिबोध का उभरता कवि छायावाद का अनुकरण अधिक समय तक नहीं कर सकता था। जो रचनाएं लिखी भी गयी उसमें दार्शनिक दृष्टि ढूंढना असंगत जान पड़ता है। छायावादी काव्य में दर्शन की अभिव्यक्ति अनुभूति के स्तर पर हुई है जबकि मुक्तिबोध के यहां दर्शन अभिव्यक्ति के स्तर पर ही आभासित होता है।

दार्शनिकता तो छायावादी कविता का एक गुण है। इसके अतिरिक्त भी छायावादी कविता में अनेकानेक गुण थे। वैयक्तिक सुख-दुख की रागिनी के साथ ही राष्ट्रीयता भी थी। कल्पना के साथ यथार्थ, निराशा, अंधकार और अवसाद के साथ आशा, आह्लाद की चमकती किरणों का प्रकाश भी था। छायावादी काव्य की इसी बहुमुखता को लक्ष्य कर आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी लिखते हैं। ----------- " उनमें राष्ट्रीय जागृति की प्रभावी ध्वनि है, करूणा का विहाग - राग है, आशा और मानव जीवन के वे उदात्त पहलू हैं, जो भूले हुए गौरव की पुनरावृत्ति का पथ निर्देश करते हैं, परिस्थितियों पर मानवता की विजय का संदेश देते हैं।"[१] इस वैविध्य के कारण ही छायावाद को हिन्दी साहित्य में अक्षय गौरव प्राप्त है।

---

१. नया साहित्य : नये प्रश्न, आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी, पृ० १४८

मुक्तिबोध छायावादी बहुमुखी प्रतिभा को नहीं अपना सके, क्योंकि उनकी मनोभूमि छायावाद के अनुकूल नहीं थी। इसीलिए इनकी रचनाओं में मौलिकता के दर्शन नहीं होते यथा सहज स्वाभाविक सौदर्यानुभूति भी नहीं है। यह उनकी काव्य दिशा भी नहीं थी, कविता का आरम्भिक चरण था। किशोरावस्था की रोमांटिक प्रवृत्ति के कारण ही उन्होनें इनका अनुकरण किया था।

वर्गसोंनिय चिंतन और मुक्तिबोध :-

अब मुक्तिबोध की रूचि दर्शन शास्त्र विशेषकर वर्गसों के दर्शनिक सिद्धान्तों की ओर बढ़नें लगी। मुक्तिबोध नें लिखा है --

"१९३८ से १९४२ तक के पांच साल मांसिक संघर्ष और वर्गसोंनिय व्यक्तिवाद के वर्ष थे। आन्तरिक विनष्ट शान्ति के और शारीरिक ध्वंस के इस समय में मेरा व्यक्तिवाद कवच की भांति काम करता था। वर्गसों की स्वतंत्र क्रियमाण जीवन श्क्ति (Elan Vital) के प्रति मेरी आस्था बढ़ गयी थी।"१

इस काल की मुक्तिबोध की रचनाएं वर्गसोंनिय प्रभाव को लिए हुए हैं लेकिन कितना व किस रूप में - इसे जानने से पूर्व वर्गसां के दार्शनिक विचारों की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

हेनरी वर्गसां (१८५९-१९४१) बीसवीं सदी के शिखर दार्शनिकों में है। उसनें अपने नूतन विचारों के द्वारा दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी। उसने अनेक पुस्तकें लिखी लेकिन उनकी प्रमुख पुस्तकों में काल और स्वाधीनता (Time and Free Will) १८८८, प्रकृति और स्मृति (Matter and Momory) १८९६ तथा रचनात्मक विकास (Creative Evolution) उनकी यह पुस्तक १९०७ में प्रकाशित हुई, तथा इससे वर्गसां को

---

१. तारसप्तक - द्वि० संस्करण, पृ० ४२

यूरोप का प्रथम दार्शनिक बना दिया।"१

इस पुस्तक द्वारा वर्गसां नें विकासवाद के सम्बन्ध में एक सर्वथा नया दृष्टिकोण रखा। "अब तक इस दिशा में डार्विन तथा लेमार्क के सिद्धान्त ही मान्य होते थे, जो विकास की यन्त्रवादी व्याख्या प्रस्तुत करते आ रहे थे। उनके सिद्धान्तों में प्रकृति को ही प्रमुखता दी गयी थी। चेतना अथवा जीवन शक्ति इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योग को नहीं।"२

वर्गसां नें इस सिद्धान्त को नकार दिया और कहा कि यदि वातावरण की अनुकूलता ही विकास के लिए एक मात्र कारण होती तो अब तक विकास रूक गया होता। जबकि तथ्य इसके विपरीत है। उसनें विकास के लिए "एक महती शक्ति है जो निरन्तर आगे बढनें को प्रेरित करती है। इस महती शक्ति को ही वर्गसां जीवन शक्ति (Elan Vital) के नाम से पुकारता है, तथा यही जीवन शक्ति विकासवाद का मूल कारण है।"३

वर्गसां के अनुसार हम निरन्तर बदलते रहते हैं, हमारी कोई भी स्थिति परिवर्तन का ही दूसरा नाम है। कोई भी विचार, भाव अथवा इच्छा ऐसी नहीं है जिसमें परिवर्तन न हो रहा हो। यदि कोई स्थिति एक सी बनी रहती है तो उसके नैरन्तर्य का भाव रूद्ध हो जाता है। वर्गसां बुद्धि और प्रतिभा में प्रतिभा को श्रेष्ठ मानता है।

संसार भी नित्य बदलते रहने की प्रक्रिया का ही नाम है। यह परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है और हम किसी वस्तु विशेष को देखकर नहीं कह सकते

---

१. पश्चिमी दर्शन - डा० दीवान चन्द्र (ऐतिहासिक निरूपम) पृ० २१२

2. Introducation to Modern Philosphy – C.E.M. Joad, Page – 87 - 88

3. Introducation to Modern Philosphy – C.E.M. Joad, Page – 89

कि यह अमुक वस्तु है जो बदलती है क्योंकि एक परिवर्तन दूसरे परिवर्तन का ही नाम है। वर्गसां के अनुसार संसार में कुछ ऐसा नहीं है जिसे परिवर्तन का नाम दे सकें, क्योंकि जो वस्तु बदलती है उसे परिवर्तन से भिन्न कुछ होना चाहिए जबकि वास्तव में ऐसा नहीं होता, कारण यह है कि यह परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। वर्गसां के अनुसार "यह संसार एक निरन्तर प्रवाह है और विकासवाद केवल इस प्रवाह की गति। विकासवाद की इस प्रक्रिया को ऐसे समझा जा सकता है मानों किसी केन्द्र से एक बहुत बड़े प्रकाश पुञ्ज में संसार जीवन और पदार्थ रूपी आतिशबाजियां फेंक दी गयी हों।"१

बुद्धि और प्रतिभा में वर्गसां प्रतिभा को श्रेष्ठ मानते हैं। सत्ता का स्वरूप जानने के लिए सहज ज्ञान आवश्यक होता है और बुद्धि द्वारा उसके सही स्वरूप को नहीं जाना जा सकता है। उसने तो यहां तक कह दिया है कि बुद्धि अयथार्थ रूप को दिखाती है। वर्गसां के सिद्धान्त में यह एक महत्व की बात है। सत्ता के स्वरूप को पहचानने के लिए हमें देश की ओर नहीं अपितु काल की ओर देखना चाहिए। काल सदा गति में है और अभिन्न है, बुद्धि सत्ता को इसके वास्तविक रूप में नहीं देख सकती। वर्गसां के सिद्धान्त में चिन्तन को जीवन का मंत्र बताया और जीवन को प्रवाह रूप में देखा गया है।

वर्गसां के अनुसार व्यक्तित्व कभी पूर्ण नहीं होता है। जीवन सदैव पूर्ण व्यक्तित्व के निर्माण में लगा रहता है। पूर्णता का अर्थ तो स्थिरता है और यहां परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। अतः ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। व्यक्तित्व का निर्माण विभिन्न अवयवों में होता है, जो एक दूसरे को पूर्णता प्रदान करते रहते हैं।

मुक्तिबोध नें वर्गसां के दर्शन को अत्यन्त रूचि के साथ पढ़ा तथा उन पर इस दर्शन का प्रभाव भी पड़ा। उन दिनों मुक्तिबोध को किसी ऐसी ही शक्ति की जरूरत

---

1. Introducation to Modern Philosphy – C.E.M. Joad, Page – 93

थी जो उनको आत्मबल दे सके और यह आवश्यकता वर्गसां के दर्शन नें पूरी की।

मुक्तिबोध की एक कविता है "व्यक्तित्व और खंडहर।" अनेकानेक कारणों से व्यक्तित्व खंडित हो जाता है लेकिन फिर जीवन 'जीवन शक्ति' उसे नूतन रूप में उद्भासित कर देती है। खंडित व्यक्तित्व अपने गत वैभव पर रो उठता है लेकिन 'जीवन - शक्ति' उसे वैभव युक्त तथा प्रकाशमान बना देती है। इसी का कल्पनात्मक चित्रण मुक्तिबोध नें अपनी इस कविता में किया है। मुक्तिबोध लिखते है - व्यक्तित्व किन्ही भी कारणों से विकेन्द्रित हो, उसके लिए पुकार अवचेतन से जो कि जीवन शक्ति का रूप है, निकट सम्बन्ध रखती है। वह समग्रता की ओर, मनस्संगटन की ओर का प्रयत्न केवल बुद्धिगत ही नहीं शुद्ध जीवनगत है। परन्तु यह विकेन्द्रीकरण अन्तर्वाह्य विरोध, परिस्थिति विरोध, आत्म विरोधों के द्वारा शुरू होता है। लेकिन व्यक्तित्व के भीतर निहित जीवन शक्ति उसमें फिर जीवन भर देती है - नवीन आशाओं और आकांक्षाओं से युक्त कर देती है।

"दब चुकी जो मर चुकी है आत्मा,
खत्म जो हो गयी आकांक्षा।
आज चढ़ बैठी अचानक, भूत सी इस कांपते नर पर
विक्षुब्ध कम्पन बन चढ़ी जानी सरल स्वर पर
प्रश्न लेकर, कठिन उत्तर साथ लेकर
रात के सिर पर चढ़ी है, नाश का यह गीत बनकर।
हँस पड़ेगी कब सहज प्रकाश का यह गीत बन कर।"[१]

---

१. तारसप्तक, द्वि० सं०, पृ० ७०

व्यक्तित्व के खंडहर के नीचे जो आत्मा दब कर मर चुकी थी और समस्त आकांक्षाएं भी समाप्त हो चुकी थी आज वह फिर वर्गसां के दर्शन की अद्भुत शक्ति से (Elan Vital) से ऊर्जा प्राप्त कर निराशा के अन्धकार को भेद कर आशा का प्रकाश उस खंडित व्यक्तित्व में भर देगी और फिर नूतन वैभव प्राप्त कर लेगी। वर्गसां नें इसका उल्लेख सामाजिक विकास के लिए किया है और मुक्तिबोध नें इसे व्यक्तित्व के स्तर पर किया है। निम्न पंक्तियों में भी इसी शाक्ति का उल्लेख किया है --

"पत्ते भी खड़े चुपचाप सीना तान -
अपनी व्यक्तिमत्ता के सहारे जो चले हैं प्राण,
उनको कौन देता है
अचल विश्वास का वरदान
उनको कौन देता है प्रखर आलोक
खुद ही जल
कि जैसे सूर्य।"१

यहां पत्ते भी चुपचाप सीना ताने हुए खड़े दिखाई देते हैं, (पत्ते यहां व्यक्ति के व्यक्तित्व के ही प्रतीक हैं) वे भी अपने सामर्थ्य के बल पर अपनी ही भीतरी शक्ति के बल पर विकसित होते हैं। उन्हें कही बाहर से शक्ति नहीं मिलती बल्कि अपने अंदर से ही शक्ति प्राप्त कर रहे हैं। जैसे सूर्य स्वयं जलकर प्रखर आलोक प्राप्त करता है। अर्थात व्यक्ति को आस्था, विश्वास, आगे बढ़नें की शक्ति कहीं बाहर से नहीं मिलती बल्कि अपने अन्दर से ही प्राप्त करता है। यहां भी वर्गसां की जीवन शक्ति की विचारधारा की ही व्याख्या करती है ये पंक्तियां। जीवन शक्ति ही विकास की मूल प्रेरक शक्ति है।

---

१. तारसप्तक द्वि० संस्करण, आत्मा के मित्र सहचर, पृ० ४६

वर्गसां के अनुसार "हम नित्य बदलते रहते हैं। हमारी भावनाएं विचार सब परिवर्तित होते रहते हैं। मानसिकता भी बदलती रहती है अन्यथा निरन्तरता का प्रवाह अवरूद्ध हो जाता है।" १

मुक्तिबोध वर्गसां की इसी बात को इस प्रकार कहते हैं --

"यह छिछलापन लघु अन्तर का

क्षण-क्षण नूतन को करना है शीघ्र पुरातन

यों नूतन की विजय चिरन्तन

महामरण पर महाजन्म का उदय क्षिप्रवर

महाभयंकर से बहता है परम शुभंकर।"२

अन्तर का छिछलापन नूतन को हर पल पुरातन में परिवर्तित करता रहता है और इस प्रकार नित्य नूतन की सृष्टि होती रहती है। मृत्यु पर जन्म का और अशुभ से शुभ का उदय होता है और इस परिवर्तन की प्रक्रिया से सृष्टि के विकास का नैरन्तर्य बना रहता है। वर्गसां के विकासवाद के सिद्धान्त में जीवन शक्ति की महत्ता विकास के प्रवाह के इसी क्रम का संकेत करती है कि हम निरन्तर महत से मरन्तर की ओर अग्रसर होते हैं।

मुक्तिबोध नें काल की गतिशीलता के सिद्धान्त को भी कई स्थानों पर अभिव्यक्त किया है। वर्गसां काल को अभिन्न एवं सतत् प्रवहमान कहता है, इसीलिए वह उसे निरन्तरता (Duration) के नाम से पुकारता है। मुक्तिबोध नें निम्नलिखित पंक्तियों में काल की प्रवहमानता की बात कही है --

---

१. तारसप्तक द्वि० संस्करण, सृजन क्षण, पृ० ६३

२. तारसप्तक, द्वि०सं०, आत्मा के मित्र मेरे, पृ० ४५

"नभ की पृष्ठभूमि पर मेरी ज्वाला की छाया फिरती है -

काल सुलझता है, मुझमें सब तस्वीरें बनती गिरती हैं।"१

प्रथम पंक्ति में प्लेटो के उस रूपक का आभास मिलता है, जिसके माध्यम से उसने पारमार्थिक जगत (World of Ideas) और अनुभव जगत (World of Experience) को समझाना चाहा है। दूसरी पंक्ति का भाव है कि काल दिग् की वास्तविकता को लेकर चलता है, अतः उसकी गति सीधी एवं सरल नहीं होती बल्कि घटनाओं से संबद्ध होने के कारण उसकी गति वक्र होती है। मुक्तिबोध नें इस तथ्य को इन शब्दों में कहा है --

"सब ओर गरम धार सा रेंगता चला

काल बांका तिरछा ---- ।"२

जीवन की गति काल की ही गतिशीलता है --

"समय का घंटाघर

निराकार घंटाघर

गगन में चुपचाप अनाकार खड़ा है

परन्तु । परन्तु --------- बतलाते

जिंदगी के काँटे ही

कितनी रात बीत गयी।"३

---

१. तारसप्तक, द्वि०सं० सृजन क्षण पृ० ६४

२. चाँद का मुंह टेढ़ा है, पता नहीं, पृ० ४

३. चाँद का मुंह टेढ़ा है, पता नहीं, पृ० २६

काल का कोई रूप नहीं, वह प्रत्यक्ष गोचर भी नहीं, लेकिन जीवन की प्रवहमानता के साथ-साथ काल भी प्रवहमान है। वह निरन्तर गतिशील है और जीवन की गतिशीलता काल के प्रवाह को ही बतलाती है। मुक्तिबोध इसमें वर्गसां के विचार को व्यक्त कर रहे हैं जहां उसने काल एवं जीवन शक्ति को एक ही माना है।

"Duration is nothing but the "elan vital" it self. In virtue of the fact that we ourselves are living beings, we belong the stream of duration, and if we attend sufficently closely to out own experience we can become conscious of the pulsing of duration within us." 1

वर्गसां के चिार से बुद्धि द्वारा सत्य को नहीं प्राप्त किया जा सकता है। आध्यात्मिक सत्य की पहचान सहज ज्ञान (Intitution) द्वारा ही हो सकती है। मुक्तिबोध निम्न पंक्तियों में वर्गसां के इसी विचार की व्याख्या करते प्रतीत होते हैं --

"ले प्रतिभाओं का सार, स्फुलिंगों का समूह

सबके मन का

जो एक बना है अग्नि व्यूह

अन्तस्तल में,

उस पर जो छायी है ठण्डी

प्रस्तर सतहें

सहसा कांपी, तडकी, टूटी

और भीतर का वह ज्वलंत कोष

ही निकल पड़ा

---

1. Introducation to Modern Philosphy C.E.M. Joad : The philosphy of Bergson – Page 95.

उत्कलित हुआ प्रज्ज्वलित कमल।"

यहां सहज ज्ञान द्वारा आध्यात्मिक सत्य को प्राप्त करने का रूपक प्रस्तुत किया गया है। संवेदना अथवा करूणा के विस्तार से ही एक कलाकार जीवन अथवा जीवन के अर्थ समझ सकता है। मुक्तिबोध की संवेदन पुञ्जों को प्राप्त करना कवि का प्रथम कर्तव्य समझते हैं। कला के दूसरे क्षण की चर्चा करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं --

"जिन कवियों के पास अपना संवेदन शिथिल है, वे शीघ्र ही तटस्थ हो जाते हैं, अपने से वे जल्दी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु मनोमय तत्व में संवेदनात्मक आनन्द प्राप्त होने की दशा क्षीण होने के कारण वे उस मनोमय तत्व के संवेदन पुञ्जों को ही ग्रहण नहीं कर पाते। फलतः उनकी कविता रिक्त रह जाती है, शुष्क हो जाती है। मनोमय तत्व संवेदन पुंजों को प्राप्त करना कवि का आद्य प्राथमिक कर्तव्य है।"१

अपनी अन्य कयी कविताओं में यथा 'चकमक की चिनगारियां, मुझे कदम-कदम पर, जब प्रश्न चिह्न बौखला उठे, अन्तःकरण का आयतन आदि में मुक्तिबोध नें संवेदनशीलता तथा संवेदनात्मक ज्ञान की उपलब्धि को महत्वपूर्ण व जीवन के सही सही रूप को समझनें को सामर्थ्य माना है।

मुक्तिबोध वर्गसां के इन्हीं विचारों से प्रभावित हुए एवं प्रेरणा भी ली। लेकिन वर्गसां के विचारों में जहां नवीनता थी वहां कुछ स्वाभाविक कमियां भी थी। इन सिद्धान्तों में उलझ व्यक्ति सामाजिक कम, व्यक्ति अधिक हो जाता है। मुक्तिबोध नें इस बहुत बड़ी कमी को पहचान लिया परिणमतः काव्य और कहानी नये रूप प्राप्त करते हुए भी अपने आस-पास घूमती थी, उनकी गति ऊर्ध्वमुखी न थी। मुक्तिबोध ने इस कमी को लक्ष्य तो किया लेकिन छायावादी भावुकता और वर्गसोंनिय व्यक्तिवाद के अतिरिक्त प्रभाव से

---

१. नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध

मुक्त करने में श्री नेमिचंद जैन का प्रमुख योगदान था। नेमि जी कट्टर मार्क्सवादी थे। उनकी गाँधीवादी आदर्शों में कोई आस्था न थी। मुक्तिबोध से इनकी घनिष्ठता बढ़ने पर मुक्तिबोध भी व्यक्ति की सीमा से निकलकर समाज के निकट आ गये, कल्पना के रंगीन आकाश से उतर कर जीवन के खुले विस्तृत आंगन में आ गये। परिणामतः उनकी रचनाओं में मार्क्सवादी स्वर सुनाई देने लगा।

मार्क्सवादी चिंतन और मुक्तिबोध :-

चौथे दशक में मार्क्सवाद का नया दर्शन वहुत तेजी से उभर रहा था। इसने पूरे विश्व समुदाय को एकाएक झकझोर कर रख दिया। उसका प्रभाव भारत में भी पड़ा। १६३६ "प्रगतिशील लेखक संघ" की लखनऊ बैठक से घोषित तौर पर इसके प्रभाव को देखा जा सकता है। इस बैठक की अध्यक्षता करते हुए मुंशी प्रेम चन्द्र नें कहा --

"हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममे गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।" १

इस हलचल से हिन्दी समाज अछूता नहीं रहा। उधर मुक्तिबोध को नेमिचन्द जैन मिले जो मार्क्सवाद के पक्के पक्षधर थे। अतः मुक्तिबोध भी मार्क्स की तरफ उन्मुख हुए। मुक्तिबोध सहित्य में साहित्यकार के आत्मोद्घाटन से उसकी सामान्य भूमि (यहां समान्य भूमि से तात्पर्य वर्गीय भूमि से है) को अधिक महत्वपूर्ण व उचित स्वीकारने लगे - यह सही है कि कविता में कवि का आत्मोद्घाटन उतना विश्वसनीय नहीं है जितनी

---

१. 'प्रगतिवाद' डा० शिव कुमार मिश्र, पृ० ९७

की उसकी सामान्य भूमि।' इस प्रकार उनके साहित्य में प्रगतिशील तत्वों का आकलन होने लगा। मुक्तिबोध मार्क्सवाद के प्रति दिन-प्रतिदिन अधिक आग्रहशील होते गये। उनका चिंतन और मार्क्सवादी अध्ययन गहन होता गया और उन्हें इससे अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण प्राप्त हुआ जिसे उन्होनें इन शब्दों में स्वीकारा है -- "सन् १६४२ के प्रथम और अन्तिम चरण में मैं एक विरोधी शक्ति के सम्मुख आया, जिसकी प्रतिकूल आलोचना से मुझे बहुत कुछ सीखना था। ----------क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ। शुजालपुर में पहले-पहल मैनें कथा तत्व के सम्बन्ध में आत्म विश्वास पाया। दूसरे अपने काव्य की अस्पष्टता पर मेरी दृष्टि गयी, तीसरे नये विकास पथ की तलाश हुई।"१

केवल मुक्तिबोध ही नहीं सम्पूर्ण सजग साहित्यिक वर्ग का झुकाव मार्क्स के यथार्थवादी चिंतन की ओर होने लगा। युग की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों की यह अनिवार्य मांग थी और काई भी साहित्यकार अपने युग की मांग से अधिक समय तक विमुख नहीं रह सकता है जैसा कि डा० शिव कुमार मिश्र नें लिखा है -- "सन् १६३६ के आसपास फैलनें वाला समाजवादी प्रभाव, दूसरा महायुद्ध, उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न आर्थिक, राजनीतिक संकट, मंहगाई, बेकारी, सन् १६४२ की क्रान्ति उसक दमन, मजदूरों की ऐतिहासिक हड़तालें, किसानों के जागृत अभियान और सबसे बढ़ कर बंगाल का अकाल - आदि वे कारण हैं जिन्होनें हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को नयी गति देकर, उसे अधिक सचेष्टता से मात्र राजनीतिक ही नहीं प्रत्युत आर्थिक स्वाधीनता के लिए भी सक्रिय रूप से प्रयत्नशील होने का बाध्य किया। उन्होनें हमारे साहित्यकारों को भी एक पथ की

---

१. तार सप्तक, पृ० ४२-४३

ओर अग्रसर होने को प्रेरित किया जिस पर चल कर वे अपने साहित्य को इन युगीन परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब बनाते हुए, जन मानस की आशाओं - आकांक्षाओं को मूर्त रूप दे सके तथा समाज की प्रगति में साहित्य को एक अनिवार्य अस्त्र तथा माध्यम के रूप में प्रस्तुत कर सके।"१

छायावाद बदली युगीन परिस्थितियों के अनुकूल नहीं रहा था। अब जन-मानस को प्रकृति का आलम्बन रूप, हवाई कल्पनाएं, एकान्त वैयक्तिकता, पराजय, निराशावाद आकृष्ट नहीं कर पा रहा था। अब लोगों को यथार्थ के धरातल पर जीवन की सच्चाई की आवश्यकता महसूस हो रही थी। अतः तत्कालीन जन मानस की भावना का अनुमान किया जा सकता है। सन् १६३० के लगभग ही हिन्दी कविता में एक नवीन सामाजिक चेतना का प्रार्दुभाव होने लगा था परन्तु इसका स्पष्ट प्रभाव १६३८ के प्रगतिशील अधिवेशन से और स्पष्ट हो गया। १६३५ में पेरिस में ई.एम. फास्टर की अध्यक्षता में भी 'प्रगतिशील लेखक संघ' का अधिवेशन हो चुका था। इन्हीं सम्मेलनों की चर्चा करते हुए डा० शिव कुमार मिश्र नें लिखा -- "सामयिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों की विकरालता से न केवल देश का ही जन मानस पीड़ित व व्यथित था वरन् सारा विश्व उनके सिकंजों में जकड़ा नवयुग के प्रवेश की कातरता से प्रतीक्षा कर रहा था। इन युगीन परिस्थितियों नें साहित्य के अगले विकास को वस्तुतः बांध सा दिया था और देश - विदेश की साहित्यिक चेतना आकुलता से नई और प्रशस्त राहों पर साहित्य के चरणों को गतिशील होते हुए देखनें को लालायित थी। सन् १६३५ में पेरिस में समस्त विश्व के प्रगतिशील लेखकों का होने वाला सम्मेलन और १६३६ में उसकी भारतीय शाखा का लखनऊ अधिवेशन इस ओर उठाए गये पहले तथा दूसरे दृढ़ कदम थे। लखनऊ अधिवेशन

१. नया हिन्दी काव्य, डा० शिव कुमार मिश्र, पृ० १४७

नें न केवल हिन्दी साहित्य में ही एक नये युग के आरम्भ होने की घोषणा की वरन् देश की अन्य भाषाओं के साहित्य नें भी नये युग में प्रवेश किया। यह युग प्रगतिवाद तथा प्रगतिशील साहित्य का युग था जिसनें एक बार सामयिक परिस्थितियों से विक्षुब्ध और दिग्भ्रमित समस्त देश की साहित्यिक चेतना को नये सिरे से उद्‌बुद्ध किया और अवरोधों तथा ह्रास के बवंडर से साहित्य को निकालकर उसमें नयी शक्ति और स्फूर्ति का संचार करने की प्रेरणा दी।" १

मुक्तिबोध मार्क्स के अध्येता एवं गम्भीर चिंतन थे। मार्क्स के दर्शन का उन्होनें गहरी रूचि तथा आस्था से साथ अध्ययन किया था। उसकी वैज्ञानिक दृष्टि नें मुक्तिबोध को प्रभावित किया था। "मार्क्स साहित्य को समाज के संदर्भ मे देखता था। सामाजिक विकास के अनुसार ही साहित्य का भी विकास होता है, जिस प्रकार समाज का मूलाधार आर्थिक व्यवस्था है साहित्य का भवन भी उसी नींव पर निर्मित होता है अतः साहित्य में भौतिक जीवन को ही प्रमुखता दी गयी है। जीवन की उत्पादन पद्धति से ही सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रियाओं का विकास होता है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती है वरन् सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का निर्धारण करता है।"२

साहित्य के प्रति मार्क्स यथार्थवादी दृष्टिकोण का आग्रही है। साहित्यकार भी सामाजिक प्राणी होता है, समाज परिस्थितियां एवं परिवेश का उस पर भी प्रभाव पड़ता है, उसे उसका सही-सही चित्रण साहित्य में करना चाहिए। संक्षेप में साहित्य में 'आत्मोद्‌घाटन' नहीं युग सत्य उद्‌घाटित होना चाहिए। मार्क्स 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का विरोध

---

१. नया हिन्दी काव्य, डा० शिव कुमार मिश्र - पृ० ६- ७

२. लिटरेचर एण्ड आर्ट, मार्क्स ऐंजिल्स, पृ० १

करता है और 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त का समर्थक है। प्रगतिवादी खेमें में कवियों नें मार्क्स के उपर्युक्त सिद्धान्तों से प्ररित होकर ही साहित्य रचना की है। "नये कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, राम विलास शर्मा और मुक्तिबोध आदि जैसे कवि हैं। जिन्हें निःसंशय प्रगतिवादी कहा जा सकता है। इन कवियों के काव्य की सामान्य विशेषताओं पर विचार करने पर कई बातों का पता चलता है। पहली यह की इसमें से सभी रूस और चीन के प्रशंसक हैं। लाल सवेरा, लाल किरण, लाल निशान, लाल सेना की चर्चा इनके काव्य में प्रायः देखनें को मिलती है। मास्को और नेनिनग्राद पर भी इन्होनें रचनाएं की हैं। कुछ के ह्दय में भारत के प्रति ममता अभी शेष है। ईश्वर और धर्म का समर्थन ये लोग नहीं कर पाये। कुछ जैसे केदार बाबू नें तो दोनों पर व्यंग्य किये। क्रान्ति के समर्थक अभी हैं। सभी में पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और शोषकों के प्रति आक्रोश और घृणा की भावना विद्यमान है। शोषितों की दशा का चित्रण इन्होनें पूरी सहानुभूति के साथ किया है। प्रायः सभी कवियों नें मजदूर और किसानों मे कोई भेद नहीं किया है।"१

अनेक लेखकों और सहित्यकारों नें मार्क्सवादी दृष्टिकोण से साहित्य पर विचार किया। मुक्तिबोध नें "नयी कविता का आत्मसंघर्ष एवं अन्य निबंध" में कविता पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार-विमर्श किया है। मुक्तिबोध काव्य रचना को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं। "काव्य रचना आत्मिक प्रयास अवश्य है पर उसमें प्रकटित सांस्कृतिक मूल्य समाज या वर्ग की देन हैं, व्यक्ति की नहीं, काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन है।"२

---

१. नई कविता नये कवि, विश्वम्भर मानव, पृ० १३५-३६
२. नयी कविता का आत्मसंघर्ष एवं अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृ० ५

प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक काडवेल भी कला को समाज प्रदत्त मानते हैं -- "कला की उत्पत्ति समाज से हाती है, जैसे मोती की उत्पत्ति सीपी से होती है।"१

इसी संदर्भ में प्रकाश चन्द्र गुप्त कहते हैं "आर्थिक और सामाजिक भूमि में ही प्रतिभा के अंकुर फूटते हैं। बढ़कर वे शक्तिशाली तरू बन जाते हैं और परिवर्तन के नये बीज भूमि पर छिटकाते हैं।"२

काव्य में केवल आत्माभिव्यक्ति ही नहीं होती वह सोद्देश्य होता है। उसमें अनुभूत वास्तव की ऐसी अभिव्यक्ति होती है कि वह जनजन को छू सके, प्रभावित कर सके। काव्य में "कवि अपने अन्तर में व्याप्त जीवन जगत को प्रकट करता है, वह किसी भावोद्देश्य को प्रकट करता है किन्तु वह भावोद्देश्य निरा व्यक्तिगत नहीं होता। औचित्य स्थापना की भावना से प्रेरित होकर वह अपने भीतर जो कुछ उसका सपना विशिष्ट है उसे सामान्य में - उस समाज में जिसे वह सामान्य समझता है, इतना अधिक मिला देता है कि उस सामान्य के प्रवाह में बहकर उसका विशिष्ट आमूलाग्र बदल जाता है। यह सामान्य क्या है? वे जीवन मूल्य हैं, वे जीवन दृष्टियां हैं जो कवि में अपने वाह्य विस्तृत जीवन में पायी है, दूसरे शब्दों में उसके अन्तर में भारत ये जीवन मूल्य और यह जीवन दृष्टि वाह्य जीवन जगत का ही मनोवैज्ञानिक रूप है।"३

कविता वाह्य का आभ्यन्तरीकरण एंव आभ्यन्तर का वाहयीकरण का नाम है। हमारे जन्म काल से शुरू होने वाला हमारा जो जीवन है वह वाह्य जीवन जगत के

१. इल्यूजन एण्ड रियलिरी, काडवेल, पृ० ११

२. साहित्य धारा, प्रकाश चन्द्र गुप्त, पृ० १६

३. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृ० ५

आभ्यन्तरीकरण द्वारा ही सम्पन्न और विकसित होता है।"१ वाह्य के आभ्यन्तरीकरण एंव आभ्यन्तर का वाह्यीकरण एंव निरन्तर चक्र है। यह आभ्यन्तरीकरण तथा वाह्यीकरण मात्र मनन जन्य नही वरन कर्म जन्य भी है। जो हो कला आभ्यन्तर के वाह्यीकरण का एक रूप है"१

काडवेल ने कला और समाज के लिए कुछ ऐसे ही अभिप्राय से कहा है- "to stand outside art is to stand inside Society"2

वास्तविक जीवन का यर्थाथ चित्र अंकित करने के लिए आवश्यक है कि साहित्यकार जीवन के गहरे सरोकारो से जुड़ा रहे। केवल मूक दृष्टा बना रहकर ही उसकी इतिश्री नहीं होनी है। इसी परिप्रेक्ष्य में डा० राम विलास शर्मा का कथन दृष्टव्य है --

"कला और विषयवस्तु दोनों ही समान रूप से साहित्य रचना के लिए निर्णायक महत्व की नहीं है। निर्णायक भूमिका हमेशा विषयवस्तु की होती है। जिसके पास उच्चकोटि के विचार नहीं हैं, भावावेश नहीं हैं, यथार्थ का गहरा ज्ञान नहीं है, वह सिर्फ कला को निखारने की कोशिश करके उत्कृष्ट साहित्य नहीं रच सकता। जिसके पास ये चीजें हैं, उसके पास मूलवस्तु है, प्रयत्न करने पर वह उसे कलात्मक रूप दे देगा।"३

मार्क्स नें समाज के विकास के इतिहास को वर्ग संघर्ष का इतिहास कहा है। समाज में दो वर्ग हैं एक शोषक तथा दूसरा शोषित। साहित्यकार भी इन्हीं वर्गों से सम्बन्धित होता है। आज समाज के प्रत्येक क्षेत्र में वर्ग भेद बहुत बढ़ गया है। साहित्य भी इसका अपवाद नहीं रह गया है। मुक्तिबोध इस वर्ग भेद से बहुत चिंतित थे। उन्होनें अपने 'नयी

---

१. नयी कविता का आत्म संघर्ष एंव अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृ० ८

२. इल्यूजन एण्ड रियलिटी, काड़वेल, पृष्ठ ११

३. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं, डा० राम बिलास शर्मा, पृ० ८६

कविता का आत्मसंघर्ष एवं अन्य निवन्ध' नामक पुस्तक में इस वर्ग भेद पर चिन्ता व्यक्त करते हुए दिखाया है कि मध्यवर्ग में भी दो फाट हैं। एक उच्च मध्यवर्ग और एक निम्न मध्य वर्ग। कवि, अध्यापक, अधिकारी, क्लर्क नेता एवं गरीव जनता के वीच बढ़ती खाई वहुत दुखद है। इससे शोषकों का मनोवल बढ़ रहा है। मुक्तिवोध वर्ग चेतना से वहुत आक्रांत थे। उन्होनें वर्ग विभेद की चर्चा खूव की है और स्वाभाविक रूप से वे निम्न मध्यवर्ग, किसान, मजदूर एवं अन्य शोषितों के साथ रही है।

लेखक के भीतर के तनाव का एक मात्र समाधान वर्गहीन सामाजिक व्यवस्था में है। इसी व्यवस्था से वर्गभेद, श्रेणी भेद सब समाप्त हो जायेगा और तभी लेखक को तनाव की स्थिति से मुक्ति मिल सकेगी। वे लिखते हैं -- "भारत की पूरी ऐतिहासिक स्थिति ही ऐसी है कि गरीब वर्ग अधिक-अधिक गरीब होते जा रहे हैं और धनी वर्ग अधिकाधिक श्रीमान्। मध्य वर्ग की खाती-पीती शिष्ट श्रेणी और उसी वर्ग की गरीब श्रेणी में भयानक खाई पड़ी हुई है, जो दिन ब दिन बढ़ती जा रही है। ये गरीब श्रेणी अब इस नतीजे पर पहुंच रही है कि उसका पूरा उद्धार सभी गरीब वर्गों की मुक्ति के साथ है, उनसे अलग हट कर नहीं। ----------- उच्चवर्गों के प्रति अविश्वास, घृणा, तिरस्कार और क्षोभ, साथ ही अपने वर्ग की दुःस्थिति में पड़े हुए लोगों की सहायता, प्रेम तथा नये आदर्शों का स्वप्न और दुःस्थिति के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया और विक्षोभ इस गरीब मध्यवर्ग के स्थायी भावों में से है। इस वर्ग से उत्पन्न और इस वर्ग से तदाकार लेखक अपनी परिस्थितियों से जूझता हुआ उन्ही भाव स्थितियों को व्यक्तिगत धरातल पर प्रकट करता है, जो उस वर्ग की अपनी होती है। लेखक की ये भाव स्थितियां अपनी श्रेणी की परिस्थितियों की पेंचीदगियों से पैदा हुए विविध तनावों से उत्पन्न होती है।"[१]

---

१. नयी कविता का आत्म संघर्ष एंव अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृ० ४६

वर्ग संघर्ष एवं वर्ग विहीन समाज की स्थापना की वकालत मुक्तिवोध बार-बार करते हैं। भक्तिकाल की चर्चा करते हुए मुक्तिवोध लिखते हैं -- "वर्ग संघर्ष का इतिहास पुराना है। भक्तिकाल में भी सन्त और भक्त कवि दो विभिन्न वर्गों से आने वाले थे। सन्त अधिकतर निम्नवर्गीय थे और तुलसी, सूर, मीरा जैसे कवि उच्च वर्ग से। महाराष्ट्र, उ० भारत कोई भी इसका अपवाद नहीं था। ------- भक्ति भावना के राजनैतिक गर्भितार्थ थे। ये राजनैतिक गर्भितार्थ तत्कालीन सामन्ती शोषक वर्गों और उनकी विचारधारा के समर्थकों के विरूद्ध थे। ---------- इस भक्ति आन्दोलन के आरम्भिक चरण में निम्न वर्गीय तत्व सर्वाधिक सक्षम और प्रभावशाली थे। दक्षिण भारत के कट्टरपंथी तत्व, जो तत्कालीन हिन्दू सामंती वर्गों के समर्थक थे, इस निम्न वर्गीय सांस्कृतिक जन चेतना के एकदम विरूद्ध थे। सामन्तवादी काल में इन जातियों (निम्न जातियों) को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती थी, जब तक कि पूंजीवादी समाज रचना सामन्ती समाज रचना को समाप्त न कर देती। किन्तु सच्ची आर्थिक, सामाजिक समानता तव तक प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक कि समाज आर्थिक - सामाजिक आधार पर वर्गहीन न हो जाए।"१

मुक्तिबोध -- "व्यक्ति स्वातंत्र्य और व्यक्तित्व की सम्पूर्ण गरिमा तथा नये साम्य मूलक शोषण - विहीन मानवोचित समाज की स्थापना को एक ही सिक्के के दो पहलू और दो तकाजे मानते हैं, जो एक दूसरे पर अपनी पूर्ति के लिए अपने विकास के लिए अवलम्बित हैं।"२

मुक्तिबोध नें पूंजीवादी व्यवस्था की घोर आलोचना की है। इस व्यवस्था को

---

१. नयी कविता का आत्म संघर्ष एंव अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृ० ६५

२. नयी कविता का आत्म संघर्ष एंव अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृ० १०४

वे मानव के समुचित विकास में बाधक मानते हैं। मुक्तिबोध के अनुसार स्थिति रक्षा में जीवनी शक्ति का अपव्यय होता है। विकास के उचित अवसर न मिलने से व्यक्ति का व्यक्तित्व दब जाता है। वह अस्तित्व रक्षा में ही उलझा रहता है और समाज के रचनात्मक विकास में सहयोग नहीं दे पाता है। मुक्तिबोध सबके लिए विकास के उचित अवसरों की समानता के पक्षधर थे, इसके लिए पूंजीवादी शोषण एवं उत्पीड़न के राज्य की समाप्ति आवश्यक मानते हैं। मुक्तिबोध समाजवाद को जनता के - जन साधारण की मुक्ति का राजपथ मानते हैं, अकिंचन और अरक्षित जीवन वालों को मुक्ति का रास्ता कहते हैं -- "समाजवाद जनता के - जन साधारण के मुक्ति का राजपथ है और इसीलिए उसकी मूल आत्मा जनतांत्रिक है। कैसे जनसाधारण? वे कि जिन्होनें शोषण और उत्पीड़न की जंजीरों को अपने संगठित कार्यों द्वारा तोड़ दिया है। समाज उनकी आर्थिक और पारिवारिक स्थिति की सुरक्षा की गारंटी लेता है, उनके बाल बच्चों की शिक्षा तथा चिकित्सा और जीविका कार्य की गारन्टी लेकर उनके शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक गुणों के उत्कर्ष के कार्य को सिद्ध करता है, और बढ़ते हुए सामूहिक उत्पादन की प्रणाली के आधार पर, उनके जीवन स्तर को क्रमशः विकसित करता जाता है। मेरे जैसे कोटिशः अकिंचनों और अरक्षित जीवन वालों की मुक्ति का रास्ता है।"१

परिवेश और परिस्थिति का बहुत प्रभाव पड़ता है। लेखक इसका अपवाद नहीं कहा जा सकता। वह भी साधारण जनता की तरह ही सादी क्रियाएं करता है। मनुष्य की स्वाभाविक गरिमा के अनुसार जीवन जीना चाहता है और उस जीवन की आवश्यकताएं पूरी हो जाने की स्थिति चाहता है। लेखक इस साधारण मनुष्य से अधिक असाधारण नहीं है। परिवेश की चर्चा करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं --

---

१. नयी कविता का आत्म संघर्ष एंव अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृ० ११४-१५

"लेखक महापुरूष बनकर पैदा नहीं होता, वह आदर्शवादी, अध्यात्मवादी, साम्यवादी बन कर नहीं जनमता। वह अपने सामाजिक वातावरण में साँस लेकर अपने परिवेश से प्रतिक्रिया करता है। उसे अपने परिवेश के भीतर जो कटु अनुभव प्राप्त होते हैं, उन अनुभवों की बारंबारता उसमें सघन निविड़ कटुत्व का भाव उत्पन्न करती है और यह भाव स्थायी भाव भी बन सकता है।"[1]

साहित्यकार सामाजिक दृष्टिकोण से, जनता की सेवा के लिए साहित्य सृजन करे या अपने भीतर सौन्दर्य प्रतीति से अभिभूत होते हुए आत्मप्रकटीकरण के रूप में साहित्य लिखे, इसके उत्तर में मुक्तिबोध कहते हैं कि बिना सामाजिक दृष्टि के सौंदर्य प्रतीति असम्भव है। सामाजिक दृष्टि और सौन्दर्यप्रतीति में किसी तरह के विरोध की बात करना बेमानी है।

प्रत्येक व्यक्ति पर उसके युग, परिवेश, समाज और संस्कृति एवं परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। हमारी आत्मा में जो कुछ है, समाज द्वारा ही प्रदत्त है, सौन्दर्य प्रतीति इससे हटकर और कुछ नहीं है। जिस समाज में रहते हैं उसके अतिरिक्त अनुभूति का और कोई कारण नहीं है। सौन्दर्य प्रतीति की बात करने वाले भले ही सामाजिक दृष्टि को ऊपर से थोपी माने पर यदि दृष्टि है तो कभी ऊपर से थोपी हुई नहीं होती है वरन् वह अन्दर का निजचेतस् आलोक होती है और जिस सामाजिक दृष्टि में यह निजचेतस आलोक नहीं है वह दृष्टि नहीं, और कुछ भले ही हो। हम जिस परिवेश में रहते हैं उन सब का संस्कार हमारा ह्दय करता है। हमारी आत्मा में जो कुछ है वह सबका सब समाज प्रदत्त है। हमारा सामाजिक व्यक्तित्व हमारी आत्मा है। मार्क्स भी व्यक्ति की वुद्धि चेतना या मन को भौतिक पदार्थों से बना मानता है और उसके अनुसार इनकी

---

१. नयी कविता का आत्म संघर्ष एंव अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृ० १३६

प्रवृत्ति और गति समाज के अपने संस्कारों के अनुसार होती है।

नयी कविता में सौन्दर्य बोध की स्थिति असन्तोषजनक है, एक निश्चित फ्रेम में आबद्ध। इस फ्रेम में जो कविता नहीं बैठ पाती उसमें साहित्यकारों को सौन्दर्य दर्शन ही नहीं होता। मुक्तिबोध इसको कतई उचित नहीं मानते हैं। मुक्तिबोध इसे अनुचित मानते हुए लिखते हैं -- "एक विशेष प्रकार की काव्याभिरूचि की औचित्य स्थापना के लिए, सिद्धान्त लाये गये अथवा सिद्धान्तों की पुर्नव्याख्या की गयी। दूसरे शब्दों में अपने काट की कविता - अपने फ्रेम में फिट होने वाली कविता को तो कविता माना गया, चाहे वह महत्वहीन गद्य ही क्यों न हो पर इसके विपरीत, राजनैतिक भावावेश से सम्पन्न काव्य विद्रूप करार दिया गया अथवा उसकी जानबूझ कर उपेक्षा की गयी। जहां भी ऐसा प्रतीत हुआ कि अन्य की जीवन दृष्टि उत्पीड़ित जनता पक्ष ले रही है, वही नाक-भों सिकोड़ें जाने के चिह्न दिखाई दिये। ये सौन्दर्यवादी लोग यह भूल गये कि बंजर काले स्याह पहाड़ में भी एक अजीब बीरान भव्यता होती है, गली के अन्धेरे में उगे छोटे से जंगली पौधे में भी एक विचित्र संकेत होता है। विशाल व्यापक मानव जीवन में पाये जाने वाले भयानक संघर्ष के रौद्र रूप तो उनकी सौन्दर्याभिरूचि के फ्रेम के बाहर थे। --------------- ऐसे एस्थेटिक इमोशन्स केवल लेखक में ही नहीं होते साधारण जन ह्रदय में भी आते जाते हैं और खूब आते हैं। जनता स्वयं एस्थैटिक इमोशन्स का भंडार है।"[१]

डा० रांगेय राघव काव्य की गहराई, मौलिकता एवं ऊँचाई इस तरह आंकने के पक्ष में हैं -- "लोकानुभूति से कवि में आत्मानुभूति उदय होती है जो व्यक्तिगत प्रक्रिया से सामाजिक रूप लेकर कविता बनकर फिर लोकानुभूति का प्रश्रय ग्रहण करती है। काव्य की गहराई इसमें है कि वह पाठक से कितने अंश तक अपनी अनुभूति को मिलाता है।

---

१. नयी कविता का आत्म संघर्ष एंव अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, पृ० १६-१७

मौलिकता इसमें है कि यह उसे कितना नया सौन्दर्य और अभिव्यक्ति के नये रूप देता है। ऊँचाई इसमें है कि वह उसे कितना उदात्त बनाता है।"१

सौन्दर्य बोध की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि -- "सौन्दर्य बोध समाज की भावनाओं से सदैव सापेक्ष रहता है। हम कभी उन वस्तुओं में सौन्दर्य नहीं देखते, जिनकी उपादेयता समाज किसी भी युग में या किसी भी रूप में स्वीकृत नहीं करता। इस सवका कारण यह है कि मनुष्य का विकास व्यक्तियों के रूप में उनके सामाजीकरण के वाद जन्म लेता है।"२

सौन्दर्य की गतिशीलता एवं यथार्थ जीवन से सम्बद्धता को सभी प्रगतिशील साहित्यकार स्वीकार करते हैं - "सौन्दर्य एक गतिशील वस्तु है (Dinamic) वह जड़ नहीं है (Static) उसकी गतिशीलता प्रत्येक क्षण अपनी सापेक्षता ग्रहण करती है। जब तक उस सापेक्षिता को उतनी गति के साथ ग्रहण नहीं किया जायेगा, तब तक उसके होने या न होने का कोई अर्थ नहीं है। इसलिए सौन्दर्य स्वयं कोई शक्ति नहीं है, वरन् वह जीवन के साथ विकसित होता है और यथार्थ में वह अधिक सशक्त और प्रेरणीय होता है। ------ चेतना की क्रियाशीलता संदर्भ में प्रसंगों में परितापित होकर किसी भी प्रकार का समझौता या पलायन का बोध नहीं करती। वह जीवन का साक्ष्य चाहती है। वह साक्ष्य उस अभिव्यक्ति में व्यक्त होता है, हमारा सारा बोध, सारा ज्ञान निर्णय लेता है अथवा दृष्टिकोण विकसित करता है। सौन्दर्य इसी चेतना के माध्यम से अवतरित होता है। इसीलिए वह जीवन के साथ, जीवन के यथार्थ से बंधा है।"३

---

१. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, रांगेय राघव, पृ० ३०८

२. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, रांगेय राघव, पृ० ३६७

३. नयी कविता के प्रतिमान, लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ० ६५-६६

युगीन परिस्थितियों नें ही इस प्रकार के क्रान्तिकारी विचारों को साहित्य में जन्म दिया था। -- सन् १९३६ के आसपास फेलनें वाला समाजवादी प्रभाव, दूसरा महायुद्ध, उसके परिणाम स्वरूप राजनीतिक आर्थिक संकट, महंगाई, बेकारी, सन् १९४२ की क्रान्ति, उसका दमन, मजदूरों की ऐतिहासिक हड़तालें, किसानों के जागृत अभियान और सबसे बढ़कर बंगाल का अकाल - आदि वे कारण हैं, जिन्होनें हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को नयी गति देकर, उसे अधिक सचेष्टता से मात्र राजनीतिक ही नहीं प्रत्युत आर्थिक स्वार्धीनता के लिए भी सक्रिय रूप से प्रयत्नशील होने को बाध्य किया। उन्होनें हमारे साहित्यकारों को भी ऐसे पथ की ओर अग्रसर होने को प्रेरित किया, जिसपर चलकर वे अपने साहित्य की इन युगीन परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब बनाते हुए, जन मानस की आशाओं - आकांक्षाओं को मूर्तरूप दे सकें तथा समाज की प्रगति में साहित्य को एक अनिवार्य अस्त्र तथा माध्यम के रूप में प्रस्तुत कर सकें।"[१]

मार्क्स के व्यापक प्रभाव नें युवा साहित्यकारों को कुछ अधिक ही आन्दोलित कर दिया था। इस काल के प्रायः सभी साहित्यकारों नें युगीन परिस्थितियों के अनुरूप मार्क्स से प्रभावित होकर अभिव्यक्ति की थी। मुक्तिबोध की रचनाओं में भी शोषक वर्ग के प्रति घृणा, शोषित के प्रति सहानुभूति, जन - क्रान्ति की भावना, समाज में फैले अनाचार, अवसर वाद की भर्त्सना, दुख एवं दारिद्र्य के प्रति क्षोभ तथा मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं का चित्रण हुआ है।

सबसे पहले रूस में सामाजिक क्रान्ति हुई थी अतः रूस सभी के लिए आदर्श एवं प्रतीक बन गया। बम्बई में हुई पहली भारत - सोवियत मैत्री संघ की पहली कांग्रेस (४ जून १९४४) के अवसर पर मुक्तिबोध नें इन शब्दों में भाव प्रकट किया --

---

१. नया हिन्दी काव्य, डा० शिव कुमार मिश्र, पृ० १४७

"अरे आज काले सागर के, बोल्गा के उस पार

जो प्रकाश के दरिया का लहरा उट्ठा ज्वार

उससे वक्ष हुआ जन-जन का उत्साहित अनिवार

मानों नया सत्य आया, दुनिया में पहली बार

मानव समता की, संस्कृति की बजी नकीरी लाज

अरे वहां से, जिसको कहते मजदूरों का राज

लाल सोवियत देश की नूतन मानव की वह लाज

दुनियां के मजलूमों का वह जलता एक चिराग

x x x x x x x x x x x x x x

लाल क्रान्ति की लड़ने वाली मजूर सेना आम

उनको, उनके स्त्री पुरूषों को मेरा लाल सलाम।"[१]

मुक्तिबोध और मानवतावाद :-

पश्चिमी जगत में मध्यकाल की समाप्ति करने में जिन विचारधाराओं नें प्रमुख योगदान दिया उनमें से मानववाद एक प्रमुख विचारधारा है। मध्यकाल में धार्मिक घटाटोप के कारण समस्त मूल्यों और प्रतिमानों का स्रोत किसी न किसी दिव्य सत्ता को माना जाता था और मनुष्य को आरम्भ से ही उस दिव्य प्रतिमान से नीचे गिरा हुआ प्राणी माना जाता था। मानववादियों नें इस मान्यता का तिरस्कार किया। उनकी स्थापना थी कि सम्पूर्ण मनुष्य ही मनुष्य का प्रतिमान है। इस स्थापना हेतु मानववादियों नें मानवोपरि सत्ता को नकार दिया और दूसरी ओर अमानवीय यांत्रिकता को। मानववादी मानते हैं कि मनुष्य में जो पाशविकता है और जो दिव्य है, इन दोनों के बीच ऐसा कुछ जरूर है जो पूर्णतः

---

१. सोवियत भूमि, मुक्तिबोध, ४ जून, १६४४

मानवीय है। इसी को नैतिकता, सौन्दर्यबोध, कला तथा अन्य आचार - विचार का प्रतिमान मानना चाहिए। कालान्तर में मानवतावाद में कई-कई विचार प्रवृत्तियां समाहित होती गयी जो परस्पर विरोधी होने के साथ कभी-कभी मानवता की ऐसी व्याख्याएं की जो एक दूसरे से प्रथक थी।

पिछली अर्धशती में ऐसी कई विचारधाराओं का प्रस्फुटन हुआ जो नव मानववाद को अपना आधारभूत सिद्धान्त मानती रही हैं इन विचारधाराओं में मानवता सदा एक सी न रहने वाला तत्व वरन् विकासशील तत्व है। इसी सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान मनुष्य विकास का परिणाम है और आगे आने वाले मनुष्य इसी विकास की एक कड़ी हैं, और किसान में सहायता प्रदान करने वाले आचार - विचार ही वर्तमान मनुष्य के आदर्श हैं। उदाहरण के लिए अरविन्द मानते हैं कि इसी विकास के तत्व नें हमें आदिम से सभ्य बनाया और आगे भी ले जायेगी तथा कई आन्तरिक तत्वों के विकास की बात करते हैं। अरविन्द द्वारा निर्दिष्ट मानववाद और रोमन कैथोलिकों का नव मानववाद मूलतः आस्तिक है और दिव्य के क्रमिक साक्षात्कार में विश्वास करता है। मार्क्सवाद नास्तिक था परन्तु नव मानववाद की प्रवृत्तियों को स्वीकार करता है। वह मानता है कि वर्ग विभाजन के कारण मानव का सन्तुलित विकास नहीं हो पाया है और यदि हुआ भी है तो एकांगी और कुण्ठित। आगामी वर्गहीन समाज में मानव का सन्तुलित और उचित विकास होगा। मुक्तिबोध मानवता के उचित विकास के लिए समाज और मानव जीवन - जगत में व्यापक प्रभाव की बात करते हुए लिखते हैं - "प्रेरणामय मानवतावादी भाव-धारा उसमें तब तक नहीं उत्पन्न हो सकती सब तक की समाज में या जीवन - जगत में मानवतावादी भाव धारा का उत्कट और व्यापक प्रभाव न हो अथवा रचनाकार का ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व न

---

१. सोवियत भूमि, मुक्तिबोध, ४ जून, १९४४

हो कि जैसा, मान लीजिए वॉल्ट ह्विटमैन का था।"[1]

मार्क्सवादी मनुष्य के समस्त आन्तरिक विकास का केन्द्रविन्दु सामाजिकता को मानते हैं। यद्यपि अराजकतावादी विचारक भी नवमानववाद की कल्पना करते हुए व्यवस्था से निर्पेक्षपूर्ण व्यक्ति को स्थापित करना चाहते हैं।

सन् १९४३ में बंगाल मे भयंकर अकाल पड़ा और लाखों - लाख लोग भूख से तड़प-तड़प कर मर गये। घोर अन्न संकट वर्षों बना रहा। साहित्यकारों का ह्दय भयंकर अकाल से तड़प उठा। मुक्तिबोध भी अछूते नहीं रहे। दुर्भिक्ष का प्रभाव वर्षों तक बना रहा तभी मुक्तिबोध लिखते हैं --

"रूक गई क्यों आज इतनी देर
तेरी लेखनी ?
अब तक विकृत दुर्गंध शव समुदाय की
बंगाल के कंकाल विगलित काय की
वातावरण में
पाप स्मृति दुःस्वप्न के भय सी सहज
वह घृणित लैंगिक व्यंग्य सी नंगी निलज
है घूमती चहुँ ओर
मानव धाम में
x x x x x x x x x x x x
कवि आज भी मानव
यहाँ पर मरे चूहे सा उपेक्षित है।

---

१. रचनाकार का मानवतावाद, मु०र०च० भाग - ५, पृ० ३५०

वह बैलगाड़ी के अचानक राह में

दो भग्न पहियों सा पराजित।

x x x x x x x x x x x x

यह पंजाब, यह बंगाल, यह है मालवे का दाह

हिन्दुस्तान की यह एक मात्र कराह।"१

मानव अपनी दयनीय स्थिति को अधिक समय तक सहन नहीं करेगा। यह उससे उबरने का भरसर प्रयास करेगा - उसका संघर्ष पूर्ण होगा। नूतन विश्व की उद्‌भावना के उसके स्वप्न साकार होंगे। उसका द्रोह, विक्षोभ और उद्योग और उत्ताप व्यर्थ नहीं जाएगा। उसी में भावानुमुक्ति की इतिहास गाथा लिखी जायेगी।

मुक्तिबोध मानव-मानव में कोई फर्क नहीं मानते हैं। वह संसार के किसी भी भाग का हो, सब एक हैं। शोषक एवं शोषित दो वर्गों में ही बंटा हुआ है। दोनों में निस्तर संघर्ष चलता रहता है। दोनों का रूप सभी जगह एक सा है चाहे वह भारत का हो या रूस या सुदूर अमेरिका का --

"चाहे जिस देश प्रान्त पुर की हो

जन-जन का चेहरा एक।

एशिया की, यूरोप की, अमेरिका की

गलियों की धूप एक

कष्ट, दुख, सन्ताप की

चेहरों पड़ी हुई झुर्रियों का रूप एक।

x x x x x x x x x x x x

---

१. 'अपने कवि से' - हंस, १९४६

दानव दुरात्मा एक,

मानव की आत्मा एक।

शोषक और खूनी और चोर एक

जन-जन के शीर्ष पर

शोषण का खड्ग अति घोर एक।

x x x x x x x x x x x x

क्रान्ति का, निमार्ण का, विजय का सेहरा एक,

चाहे जिस देश प्रान्त पुर की हो

जन-जन का चेहरा एक।"१

मुक्तिबोध पूंजीवादी व्यवस्था का घोर विरोध करते थे क्योंकि यह व्यवस्था मानवता का, सत्य का गला घोंट कर, असत्य को, अवसरवाद को प्रश्रय देती है। जन-जन का शोषण, दमन ही उसकी नीति है, बड़े-बड़े साहित्यकार, कलाकार राजनीतिज्ञ इसके शिकंजे में हैं और थोड़ी सी सुविधा के लिए अपने आदर्श भूलकर अपने आप को शोषकों के हाथ बेच देते हैं --

"राजनीति, साहित्य और कला के प्रतिष्ठित महासूर्य

बड़े-बड़े मसीहा

सरकस के जोकर से रिझाते निरन्तर

नाचते हैं, कूदते हैं

शोषण के सिद्ध हस्त स्वामियों के सामने।

x x x x x x x x x x x x

---

१. जन-जन का चेहरा एक, मु०रच०, भाग - १, पृ० ११२

अवसरवादी बुद्धिमत्ता ग्रहण कर

औ जिन्दगी को धूलकर

बिल्कुल बिक जाते हैं।"१

लेकिन जिन्दगी का रास्ता इन शोषण के स्वामियों के पास नहीं मिलता है। सत्य की शक्ति इस सुविधाभोगी वर्ग के पास कहां है, वह तो कहीं और है --

"हरहराते भावों के आंसू भरे मानवीय वेग में

आत्म बलिदान की कठोर प्रतिज्ञा कर

जिन्दगी का रास्ता

पूंजीवादी दानवों, और मध्यवर्गी नपुंसक मानवों

की वंचना नगरी से छिटककर

टूटे फूटे घरों वाली सील खायी

गलियों के अंधेरे में

रहने वाले आगामी युगों के सृष्टाओं

के चौराहों पर मिलता है।"२

मुक्तिबोध इस पूंजीवादी व्यवस्था को नष्ट हुआ देखना चाहते थे। इस शोषण की कारा को सर्वहारा ही तोड़ सकता है और मानवता को मुक्त करा सकता है --

"दे तोड़ तिलस्मी शासन के चक्रव्यूह

दे जला खेड़ेरों के पीपल

कर मुक्त

---

१. 'जिन्दगी का रास्ता', मु०रच०, भाग - १, पृ० २३३

२. जिन्दगी का रास्ता, मु०रच०, भाग - १, पृ० २५१

श्वान स्यारों के तन, चिमगादड़ तन में अब तक जो मानव बन्दी

तोड़ दे, द्वार शत रूद्ध किए जो खड़ी शिलाएं सौ अन्धी

शोषक की आवश्यकताएं, दे तोड़ तिलिस्मी सत्ताएं

हे महाश्रमिक।"१

मुक्तिबोध की समस्त सहानुभूति श्रमिक, दलित वर्ग के प्रति है। वह उनकी आस्था है उनका विश्वास है, जो कर्मशील है, दुख की आग में तपे हैं --

"एक गाँव है, वहां नदी है

नदी कूल से दूर दिशा तक खेत बिछे हैं,

हरे-हरे ये श्यामल-श्यामल

जिनमें छिपी-छिपी फिरती है लाल ओढ़नी

मुंह की श्यामल चमक सुरीली

साथ-साथ मेहनत के पुतले

शोषण हत गम खाने वाले

दुख के स्वामी

x x x x x x x x x x

एक प्रतीक बना है केवल जन-जन के निःसीम त्याग का

मेरी खिड़की से दिखती है

होरी की वह याद।"२

---

१. 'रास्ते में रात होते हुए भी मन में प्रातः', हंस, नव० १९५०

२. बबूल, मु०रच०, भाग - १, पृ० १४८

यहां मानव की इज्जत नहीं होती है केवल अर्थ ही पूजा जाता है। समस्त गुण, प्रतिभा, स्नेह, शक्ति धन से बंधे हुए हैं अर्थात पूंजी ही सर्वशक्तिमान है मानवता उपेक्षित रहती है --

"केवल मानव की इज्जत क्या
कभी कर सकी दुनियादारी ?
सारा स्नेह, शक्ति, गुण, प्रतिभा
रहती धन सीमा से सीमित
यह है अन्तिम सत्य अनाहत।"१

मुक्तिबोध नें इस कटु सत्य को स्वयं झेला है। यह कटु सत्य उनके वाह्य एवं आन्तरिक जीवन को निरन्तर पीड़ित करता रहा है। वे लिखते हैं कि -- "मेरी अपनी जिन्दगी जिन तंग गलियों में चक्कर काटती रही, उन्हें देखते हुए यही मानना पड़ता है कि साधारण श्रेणी में रहने वाले हम लोगों को अस्तित्व संघर्ष के प्रयासों में ही समाप्त होना है। मेरा अपना प्रदीर्घ अनुभव बताता है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य की वास्तविक स्थिति केवल उनके लिए है जो उस स्वातंत्र्य का प्रयोग करने के लिए सुपुष्ट आर्थिक अधिकार रखते हों, जिससे कि वह परिवार सहित मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकें, जो विवेकपूर्ण हो और लक्ष्योन्मुख हो। --------- जीवन और परिवेष की विषमता की यह स्थिति अभ्यन्तर लोक में भी दुःस्थिति उत्पन्न करती है, यह एक दारूण सत्य है। मैं कहूँ कि ये मेरा अपना भी सत्य है।"२

मुक्तिबोध का साहित्य मानव मात्र के दुख का करूण चित्रण करता है।

---

१. 'किसी से' मु०रच०, भाग-१, पृ० १५७ - ५८

२. तार सप्तक द्वि०सं० १९६६-पुनश्च, पृ० ७५

उसमें शोषक वर्ग के वैभव विलास, अत्याचार की दारूण कथा और शोषित वर्ग (दलित एवं पीड़ित जन) की मार्मिक व्यथा है। समाज की अव्यवस्था का चित्र है तो वहीं शोषण रहित, वर्ग रहित समाजवादी व्यवस्था का एक सपना भी है। मार्क्सवादी आस्था के मन में पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति आक्रोश है और विश्वास भी है कि शोषित वर्ग इसको ध्वस्त कर देगा।

मुक्तिबोध क्रान्ति को मनुष्यता का तकाजा मानते हैं। वह कहते हैं कि -- "गरीब वर्गों के लिए क्रान्ति मनुष्यता का तकाजा है।"[1] और मुक्तिबोध को यही एक चिन्ता है --

"समस्या एक
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी, सुन्दर व शोषण मुक्त
कब होंगे ?"[2]

इस प्रकार यह सिद्ध है कि मुक्तिबोध की कविताओं में मार्क्स का दर्शन व्याप्त है। उनकी रचनाओं को देखकर कोई भी उन्हें मार्क्सवादी आस्था का कवि कहनें में नहीं हिचकिचाएगा, परन्तु मुक्तिबोध केवल मार्क्सवादी कवि हैं ऐसा भी नहीं है। उनका साहित्य उनकी सीमाओं को पार कर जाता है और यहीं पर वे अन्य साहित्यकारों से विशिष्ट हो उठते हैं। इसी वैशिष्ट्य को लक्ष्य कर अशोक बाजपेयी ने कहा --

"मुक्तिबोध नें सामाजिक यथार्थ के अपने गहन काव्यान्वेषण के लिए मार्क्सवाद का स्तेमाल किया, उसके विश्लेषणों और रूपकों का भी। लेकिन उन्हें मार्क्सवादी

---

१. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ० ७०

२. चाँद का मुंह टेढ़ा है, पृ० १६४

कवि कहना उनके काव्य के कलात्मक और परिणतियों को अकारण सीमित लगभग विकृत करना होगा। मार्क्सवादी कवि उनके लिए बिल्कुल अधूरी और अपर्याप्त संज्ञा होगी।"१

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि "उनकी काव्य चेतना पर अनेक परस्पर विरोधी प्रभाव पड़े हैं, इनकी अनुभूति गहन तथा चिन्तन विस्तृत है। इनकी काव्य चेतना मार्क्सवादी चिंतन से भी प्रभावित रही है, पर वह इसे अपनी सृजन - प्रक्रिया पर हावी नहीं होने देते।"२

मानव की पीड़ा एवं संघर्ष की सकल अभिव्यक्ति मुक्तिबोध के साहित्य में हई है। चूँकि मुक्तिबोध स्वयं एक पीड़ित मानव हैं उस पीड़ा और संघर्ष से बार-बार गुजरे हैं, उस तीव्र त्रासद अनुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति तभी संभव हुई है। उनका चिंतन मानवता का चिंतन है। वे अत्यन्त संवेदनशील थे। ऐसे व्यक्ति का काव्य अप्रत्यक्ष ढंग से जीवन की व्याख्या बन जाता है।

---

१. 'फिलहाल', अशोक बाजपेयी, पृ० १३५

२. कविता और कविता, डा० इन्द्र नाथ मदान, पृ० २४

अध्याय - चतुर्थ

मुक्तिबोध की जन-चेतना एवं आधुनिक काव्य

छायावादी काव्यान्दोलन एवं मुक्तिबोध :-

१६३५-४० छायावाद का उत्कर्ष काल था। इस समय छायावाद प्रगति की चरम सीमा पर था। यों तो छायावाद सन् १६२० से १६३० तक ही पर्याप्त प्रगति कर चुका था। प्रसाद का "आँसू", पन्त का "पल्लव", निराला के "अनामिका" और "परिमल" तथा महादेवी के "निहार" के प्रकाशन नें हिन्दी काव्य धारा को एक सर्वथा नूतन और कलात्मक मोड़ प्रदान कर दिया था। रूढ़ि बद्ध मूल्यों और पुरातन साहित्यिक मान्यताओं को इस नई काव्य धारा के उदय से तीव्र आघात लगा। कविता वाह्य विषय वस्तु से हट कर विषमी प्रधान होने लगी। उसमें कवि के अपने राग-विराग की प्रधानता हो गयी। जैसा कि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - "१६००-१६२० ई० की खड़ी बोली की कविता में विषय वस्तु की प्रधानता बनी हुई थी। परन्तु इसके बाद की कविता में कवि के अपने राग-विराग की प्रधानता हो गयी। विषय अपने आप में कैसा है, यह मुख्य बात नहीं थी बल्कि मुख्य बात यह रह गयी थी कि विषयी (कवि) के चित्त के राग-विराग से अनुरंजित होने के बाद वह कैसा दिखता है। विषय इसमें गौड़ हो गया, विषयी (कवि) प्रधान।"१

द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता, नीति परकता, उपदेशात्मकता और बौद्धिक रूक्षता के स्थान पर एक अपूर्व कल्पना प्रवणता, वैयक्तिक वेदना और सौन्दर्य दृष्टि का

---

१. छायावाद - संपादक - उदय भानु सिंह, पृ० २७

रंजन काव्य में दृष्टिगत होने लगा। छायावाद का जन्म ही द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। द्विवेदी युग की कविता में वस्तुनिष्ठता की प्रवृत्ति ही प्रबल थी। उसमें वर्णन विविधता का बाहुल्य रहा, लेकिन इस वर्णनात्मकता ने काव्य में रूखेपन का विस्तार किया। हृदय के कोमल भावों का इस काव्य में सन्निवेष न होने एवं आत्मानुभूति का अभाव होने के कारण कविता में सरसता एवं हृदय को स्पर्श करने की सामर्थ्य का सर्वथा अभाव हो गया। कवि भी दूसरों का वर्णन करते-करते ऊब गया, उसका हृदय काव्य में सहानुभूति और आन्तरिक अभिव्यक्ति के लिए छटपटा उठा। महादेवी वर्मा के शब्दों में – "सृष्टि के वाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा"१

काव्य में इस आन्तरिक स्पर्श और वैयक्तिक भावनाओं के समावेश से कविता का स्वर ही बदल गया, भाषा की व्यञ्जना शक्ति ने अद्भुत क्षमता प्राप्त कर ली। सूक्ष्म भावों का चित्रांकन सफलता पूर्वक किया जाने लगा। भाषा परूष और कर्कश के स्थान पर कोमल और माधुर्य गुण सम्पन्न होने लगी। काव्य के इस बदले हुए स्वर की अभिव्यक्ति ही हम प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की उपयुक्त रचनाओं में पाते हैं। इस कवि चतुष्टय के अतिरिक्त श्री राम कुमार वर्मा, माखन लाल चतुर्वेदी, बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन' इत्यादि कवियों का काव्य भी इस परिवर्तित परिवेश की अभिव्यक्ति करता है। काव्य के इस स्वर परिवर्तन की पृष्ठभूमि में केवल द्विवेदी युगीन काव्य की प्रतिक्रया ही नहीं थी, अंग्रेजी का स्वच्छंदतावाद **(Romanticism)** और देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक

---

१. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, महादेवी वर्मा, पृ० ६५

स्थिति भी प्रेरक शक्ति का कार्य कर रही थी। बंगाल से रवीन्द्रनाथ टैगोर के माध्यम से आती हुई रोमांटिक भावधारा तथा देश की बदली हुई स्थिति नें ही द्विवेदी युगीन काव्य की एक स्वरता के विरूद्ध विद्रोह कर एक अत्यन्त ही काव्यात्मक आंदोलन को सम्भव बनाया, जिसने एक सर्वथा नूतन कला बोध को जन्म दिया जो अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों के कारण साहित्य जगत में 'छायावाद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। सन् २० से ३० का काल छायावादी कविता का उत्थान काल था, लेकिन वह अभी पूर्णावस्था को प्राप्त नहीं कर सकी थी। उसकी प्रगति के चरण शेष थे। प्रौढ़ता और विकास की चरमावस्था तक पहुंचने के लिए उसके चरण निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसर थे। छायावाद की श्रेष्ठतम् कृतियों का यह काल नहीं था, अतः साहित्य जगत उसके पूर्ण और परिपक्व परिचय से अनभिज्ञ था। हिन्दी साहित्य में उसका अक्षय स्थान भी नहीं बना था। इस दृष्टि से १६३५ से ४० तक का काल छायावाद का पूर्ण विकास और उत्कर्ष काल माना जा सकता है। इसी समय छायावादी कवियों की श्रेष्टतम् रचनाएं साहित्य जगत के सम्मुख आई। जयशंकर प्रसद की "कामायनी", पंत की "गुंजन" और "ज्योत्सना", निराला की "अनामिका" और "गीतिका" तथा महादेवी वर्मा का "सांध्यगीत", "रश्मि", "नीरजा" आदि काव्य संग्रह इसी काल के आस-पास प्रकाशित हुए। इन्हीं काव्य ग्रन्थों के प्रकाशन से छायावाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई और हिन्दी साहित्य में सदैव के लिए उसका एक निश्चित और अक्षुण्ण स्थान निर्धारित हो गया। इन काव्यों नें हिन्दी को नूतन रूप - वैभव प्रदान किया। कविता का यह एक नया संसार था जो अपने छंद, नये अलंकार और नूतन अभिव्यक्ति प्रणाली के कारण विशेष स्पृहणीय हो उठा। छायावाद में अपनी रोमांटिक भावना, अपूर्व कल्पना प्रवणता एवं

चित्रमयी भाषा के कारण अद्भुत आकर्षण था। छायावाद कुछ ऐसी ही परिस्थितियों की उपज था कि इसका स्वर सभी साहित्य रसिकों को अभिभूत करता था। अनेकानेक कवि इस कविता के प्रकट होने लगे। श्री रामचन्द्र शुक्ल नें इस वाद के अद्भुत आकर्षण की चर्चा की है - यद्यपि एक सर्वथा ही अन्य अर्थ में - "यह वाद क्या प्रकट हुआ एक बने बनाये रास्ते का दरवाजा सा खुल पड़ा और हिन्दी के कुछ नये कवि उधर एक बारगी झुक पड़े। यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था। इसका दूसरे साहित्य क्षेत्र में प्रकट होना, कई कवियों का इस पथ पर एक साथ चल पड़ना और कुछ दिनों तक इसके भीतर अंग्रेजी और बंगला की पदावली का जगह-जगह ज्यों का त्यों अनुवाद रखा जाना, ये बातें मार्ग की स्वतंत्र उद्भावना को सूचित नहीं करती।"१ लेकिन शुक्ल जी की यह स्थापना युक्तियुक्त नहीं लगती कि अंग्रेजी की रोमांटिक भावधारा और रवीन्द्र काव्य की प्रेरणा से ही यह काव्यान्दोलन उठा था। यह अवश्य है कि हिन्दी के छायावादी कवि नें इनसे प्रेरणा ली, लेकिन इसके अतिरिक्त भी कारण थे, जिससे इस आन्दोलन का उठना और साहित्य जगत में छा जाना स्वाभाविक जान पड़ता है। इय विषय में भी प्रभाकर माचवे का यह कथन अधिक युक्त संगत है - "छायावाद किन परिस्थितियों में जन्मा? कौन सी ऐसी विशेषता या आकषर्ण लेकर आया जो उठा वह छायावाद का प्रेमी बन गया। घर-घर वैसे ही कवि बनने लगे, द्वार-द्वार वैसी ही कविता पढ़ी जाने लगी। वह परिस्थिति थी महायुद्ध का अन्त हिन्दी का प्रान्तों तक प्रसार और ब्रजभाषा की कविता का ह्रास, विपुल समाचार पत्रों का प्रकाशन, राजनीति में गाँधीवाद का प्रारम्भ।"२

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य राम चन्द्र शुक्ल पृ० ६२१
२. 'सन्तुलन' प्रभाकर माचवे पृ० ११०

वास्तव में यही वे कारण थे छायावाद के प्रति अधिकाधिक आकृष्ट होने के लिए। यह सच है कि साहित्य की पुरानी पीढ़ी काव्य के इस नूतन कला बोध को प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखती थी, जनता के बीच भी इसका कोई विशेष प्रचार नहीं था, लेकिन भावुक किशोर वर्ग के हृदयों को यह काव्य आन्दोलित करता था। वे इससे प्रेरित व उत्साहित होते थे और उसका अनुकरण करने का प्रयत्न करते थे।

१६३५ का काल, जिस समय मुक्तिबोध नें काव्य रचना आरम्भ की थी, छायावादी काव्य से प्रेरणा लेने का नहीं था। यद्यपि इस समय छायावाद अपनी उत्कर्षावस्था में था, लेकिन दूसरी ओर इस काव्य के विरूद्ध प्रतिक्रियात्मक स्वर भी उठने लगे थे। छायावादी काव्य वास्तविक जीवन से विमुख होता जा रहा था। एक प्रकार से यह कविता जीवन के यथार्थ से विच्छिन्न हो गयी थी, और तत्कालीन युग कविता और जीवन के संबन्ध के प्रति आग्रहशील था। इसी आग्रह के परिणाम स्वरूप सन् १६३६ की 'सरस्वती' में छायावादी काव्य की एक धारा 'रहस्यवाद' के निवार्सन की घोषणा एक कविता की परिक्तयों में इस प्रकार की गयी है --

> "क्या होगा गाकर अनन्त का नीरव औ मधुमय संगीत,
> मलयानिल की उच्छ्वासों का अस्फुट अनुपम राग पुनीत।
> कनक रश्मियों के गौरव से होगा क्या दुखियों का त्राण,
> रूखी ही रोटी में जिनको है यथार्थ जीवन का प्राण।
> होगा क्या बनवाकर कविते। तुहिन बिन्दु की निर्मल माल,

विस्मृति के असीम सागर में फैलाकर स्वप्नों का जाल।"[१]

इस कविता का शीर्षक भी 'रहस्यवाद का निवार्सन" था। अतः स्पष्ट है कि कविता कल्पना से निकलकर जीवन धारा की ओर संचरण करना चाहती थी।

इसके साथ ही वातावरण में मार्क्सवाद की अनुगूँज सुनायी पड़नें लगी थी। बुद्धिजीवी वर्ग में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा था "जिसके अनुसार जगत का एक मात्र सत्य भौतिक जीवन ही है। उसी का उपभोग हमारा ध्येय है, अन्य किसी भी काल्पनिक सुख की खोज में भटकना पलायन है। और इसी भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था है समाज, जिसका आधार है अर्थ।"[२]

इसकी दृष्टि में व्यक्ति के स्थान पर समष्टि के सुख-दुख का ही महत्व है और साहित्य में भी वह समाज के सुख - दुख की अभिव्यक्ति को मान्यता प्रदान करता है। साहित्य में इस प्रकार स्थूल यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति की आवश्यकता है। कल्पना और वायवी चित्रण निरर्थक हैं। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर प्रेमचन्द्र की अध्यक्षता में १९३६ में लखनऊ का प्रगतिशील अधिवेशन हुआ। तरूण वर्ग में भी मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों की ओर उनकी आस्था बढ़ती जा रही थी।

इस प्रकार का वातावरण और स्थिति के होते हुए भी तरूण कलाकार मुक्तिबोध की काव्य रचना छायावादी प्रेरणा से आरम्भ हुई जैसा कि उन्होनें स्वयं 'तारसप्तक' के वक्तव्य में लिखा है - "मालवे के विस्तीर्ण मनोहर मैदानों से घूमती हुई

---

१. 'सरस्वती' - खण्ड - ३७, संख्या - ३, सन् १९३६

२. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां - डा० नगेन्द्र, पृ० १००

क्षिप्रा की रक्त भव्य सांझें और विविध रूप वृक्षों की छायाएं मेरे किशोर कवि की आद्य सौन्दर्य प्रेरणाएं थी। उज्जैन नगर के बाहर का वह विस्तीर्ण निसर्ग-लोक उस व्यक्ति के लिए जिसकी मनोरचना में रंगीन आवेग ही प्राथमिक है, अत्यन्त आत्मीय था।"[1]

मुक्तिबोध के प्रारम्भिक कवि के लिए छायावाद से प्रेरणा लेने के दो प्रमुख कारण दृष्टिगत होते हैं। - प्रथमतः मध्यप्रदेश का तत्कालीन वातावरण और द्वितीय मुक्तिबोध की स्वयं की अन्तःप्रकृति। चूंकि १६३६ के आसपास मध्यप्रदेश के वातावरण में महात्मा गाँधी की विचारधारा ही स्थान बनाएं हुई थी। मार्क्सवादी विचाराधारा का प्रभाव अभी नहीं हुआ था। क्योंकि १६३६ का प्रगतिशील आन्दोलन उत्तर प्रदेश में ही प्रभावी था। मध्य प्रदेश में माखनलाल चतुर्वेदी और रमा शंकर शुक्ल 'ह्रदय' रोमांटिक काव्यधारा के प्रमुख कवि थे और उनका ही युवा वर्ग पर प्रभाव दिखाई पड़ता था। अतः मुक्तिबोध भी उससे अछूते नहीं रहे। इसके अतिरिक्त उनकी अन्तः प्रकृति भी प्ररम्भ में छायावादी ही रही। मुक्तिबोध नें अपनी रचना के प्रारम्भिक काल के आस-पास ही अपनी डायरी में लिखा है कि - "मैं रोमांस प्रिय हूँ। मैं बचपन से ही रोमांटिक हूँ। ---------- मैं आज की अपेक्षा कहीं अधिक कल्पना प्रिय था।"

मुक्तिबोध के प्रारम्भिक कवि में इस वाद का रंग गहरा था अतः उनकी रचनाओं में ऐसे तत्व स्वतः ही आ गये जिनका छायावादी काव्य में प्रमुख स्थान था। छायावादी कवियों में कल्पना और वेदना का तत्व प्रमुख था अतः मुक्तिबोध भी वेदना के आधार पर काव्य में कल्पना के सुकुमार चित्र अंकित करना चाहते हैं। ह्रदय की चाह को

---

1. तारसप्तक, द्वि० संस्करण, पृ० ४१

सुलाकर स्मृति के शूलों को कल्पना के नूतन फूलों से मण्डित करना चाहते हैं ---

"वेदना का कवि बनूं मैं, कल्पना का मृदु चितेरा

प्राण मेरे अश्रुवन कर प्रिय उषा का देखते हैं,

किन पदों की लालिमा से आज शोभन दुख सवेरा,

प्राण, वे कब जानते थे अश्रु में प्रतिबिम्ब उनका

x x x x x x x

ओस में रो फूल हंस, आ वहां दे एक फेरा

वंदना में झूम ले तू, कल्पना का बन चितेरा।"१

मुक्तिबोध कविता ऐसी रचना चाहते थे जो चन्द्र और कुमुद कुसुम सी मृदु और उज्जवल हो तथा जो प्रिय के सुकुमार बदन सी सजीली और सौन्दर्य मण्डित हो। वह उस सुमुखि से अपने स्खलित होते हुए जीवन के लिए मरण को प्रिय के रूप सा आकर्षक बना देने का आग्रह करता है -

कविते !

चन्द्र का तू मुकुट पहिने कुमुद पर रख चरण कोमल

गाल में प्रिय के लजा औ, मम अधर पर कॉप प्रतिपल

x x x x x x x

तरूणि तेरे पास आया इन कणों का भार लेकर

बादलों के पार होने इन्द्रधुन का प्यार लेकर

---

१. मु०रच०, भाग - १, पृ० ४३, ४४

मरण आकर्षण बना री सुमुखि। प्रिय के रूप मृदु सा

आज जीवन स्खलित होता प्रिय मधु मधुसार लेकर।"१

उपर्युक्त पंक्तियों में कोमलकान्त पदावली छायावाद के अनुकरण पर प्रयुक्त हुई है तथा इन्द्रधनु का प्यार लेकर बादलों के पार जाने में छायावारी पलायन का भाव व्यक्त हुआ है।

छायावाद में "मृत्यु" के प्रति एक आकर्षण भाव है लेकिन यह इसलिए नहीं है कि जीवन दुखमय है, त्रासद और अभावमय है, यद्यपि कहीं-कहीं जीवन में असन्तोष के कारण भी मृत्यु का आह्वान किया है, लेकिन ऐसा कम ही हुआ है। प्रसाद ने मृत्यु को जीवन की विभीषिकाओं में मृत्यु को शीतल अंक के रूप में याद किया है। ---

"मृत्यु, अरी चिर निद्रे। तेरा

अंक हिमानी - सा शीतल,

तू अनंत में लहर बनाती

काल जलधि की सी हलचल ।"२

मुक्तिबोध को छायावादी कवियों से प्रेरणा तो मिली ही थी उन पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का भी प्रभाव था। इस सम्मिलित प्रभाव के कारण मुक्तिबोध को भी मृत्यु का रूप क्रूर और भयावह नहीं प्रतीत होता है। "मरण-रमणी" कविता में कुछ ऐसा ही भाव है---

मरण बन सखि, मम कर्णों से प्यार का आश्लेष कर री

---

१. मु०र०च०, भाग - १, पृ० ४६ - ५०

२. कामायनी, प्रसाद, पृ० २८

मधु अधर के स्पर्श में उस पार का संदेश भर री

x x x x x x x

कुसुम कोमल कर घेर तब नाचता नेपथ्य जाऊँ।

दिन हटे, और निशि जगे, द्रुत शून्य हो प्रासाद जाये।"१

छायावादी काव्य में नारी को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वह सौन्दर्य की अधिकष्ठात्री देवी है। प्रकृति के कोमल उज्ज्वल उपकरणों सी उसकी रूप माधुरी है। प्रेरणा का पावन उत्स है। छायावादी कवियों नें विभिन्न रूपों में अपनी प्रेयसि नारी की प्रतिच्छवि का अवलोकन किया है ---

"और देखा वह सुन्दर हृदय

नयन का इन्द्रजाल अभिराम,

कुसुम वैभव में लता समान

चंद्रिका से लिपटा घन श्याम।"२

मुक्तिबोध की अपनी प्रेयसी का रूप भी दिव्य मधुर है। प्रकृति के प्रत्येक उपकरण में उन्हें अपनी प्रेयसि की प्रतिच्छवि दृष्टिगत होती है, जिससे उसकी स्मृति घनी होकर उनके हृदय को आंदोलित कर देती है ---

तुम कुहर विपिन में छिपी रही

कोमल पातों पर पारिजात

---

१. मु०रच०, भाग - १, पृ० ४४

२. कामायनी, प्रसाद, पृ० ५६

इस स्निग्ध मध्य रजनी में

प्रिय स्मृति ले आया है सुरभि वात।"१

छायावादी कवियों को - एक स्वप्निल संसार में रहना ही प्रिय लगता था। वे जीवन की यथार्थ भूमि से दूर किसी स्वप्न संसार में रहना अधिक पसन्द करते थे। इसीलिए प्रसाद ने नाविक से भुलावा देकर - किसी निर्जन एकान्त में ले चलने की बात करते हैं तो मुक्तिबोध को भी सत्य का संसार रूखा प्रतीत होता है। 'स्वप्न का प्यार' में मुक्तिबोध कहते हैं ---

"कमलिनी - स्मित रेख में धुल

अरूण रवि की रश्मि मे खिल

x x x x x

सरित पीड़ित अंग में कृत

विहग चंचल गान में झिल

खो गयी उदार बन कर उन क्षणों की हार पायी

सत्य का संसार रूखा, स्वप्न बन कर प्यार लायी।"२

छायावदी कवि को दुख से भी एक सहज लगाव रहा है। वह दुख में ही सुख प्राप्त करना चाहता है। मुक्तिबोध का कवि भी दुख की विमल धारा में बहना चाहता है --

"हम तर चले री। वह रही है दुख की यह विमल धारा

---

१. मु०रच०, भाग - १, पृ० ५१ रचना काल - ०५.०४.३७

२. मु०रच०, भाग-१, पृ० ४८

फूल के इस ह्रास में है अश्रु का भी हास प्यारा।

इस जगत के हैं हम नहीं, यह जगत नन्दन छोंड़ दें क्या ?

वह चलें इस धार में ही पुलिन बन्धन तोड़ दे क्या ?"१

छायावादी विस्मय अथवा कौतुहल का भाव भी मुक्तिबोध की कविता में प्रच्छन्न नहीं है - निम्न पंक्तियों में देखिए --

तिमिर घनों को पार कर रही कौन शरीरी सस्मित छाया

मानस गति सम कौर तरल पद, री तेरे सिरहाने आया ?

हलके छू तेरी मृदु अलकें, अरूण कपोल स्निग्ध स्कंधांचल

जग गया री, इन अधरों पर कौन गन्ध मय चुम्बन निर्मल

दिल की प्यास असीम उमड़कर दुलकी क्यों आँखों में आकुल।

इस तरह यह स्पष्ट है कि मुक्तिबोध अपने प्रारम्भिक काल में छायावाद के नजदीक रहे। वैसे उन्होने छायावादी भावभूमि पर रचनाएं अवश्य की परन्तु पूरी तरह से वे छायावाद को अपनी कविताओं में नहीं उतार पाए। उनकी कविताओं को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे छायावाद का अनुकरण ही करते प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त इसी काल में लिखी गयी मुक्तिबोध की कुछ कविताओं में फैंटेसी तत्व उभरता हुआ प्रतीत होता है। आगे की कविताओं में इस फेंटेसी तत्व का विकास किया गया है, और यह उनके काव्य का प्रमुख गुण बन गया। इसी तत्व की प्रधानता के कारण उनकी कविताएं लम्बी और - लम्बी होती चली गयी है और 'स्वागत भाषण' सी प्रतीत होती है। यह उन के काव्य का एक

---

१. मु०रच०,भाग-१, पृ० ४२

प्रमुख गुण है कि अपने कथ्य की अपने भावों को फैंटेसी के माध्यम से कह सके, जो किसी भी अन्य कवि के लिए कठिन कार्य हो सकता है। यही कारण है कि मुक्तिबोध का काव्य-विकास प्रगतिवादी या प्रयोगवादी कवियों से भिन्न अपने लिए स्वतंत्र पथ का निमार्ण कर सके। उनके इस काव्य गुण के चिह्न उनकी आरम्भिक काल में लिखी गयी कविताओं में देखा जा सकता है ----

बिना तुम्हारे बंजर होगा आसमान

ऊजड़ होगी सारी जमीन।

फिर उसी धधकते हुए सूर्य

के तले प्रखर

सब ओर चिलचिलाती काली चट्टानों पर

ठोकर खाता, टकराता, भटकेगा समीर।।

फैंटेसी शैली में लिखी गयी यह एक लम्बी कविता है। जीवन की विषमताओं के साथ-साथ इस बिम्बों की सघनता बढ़ती चली गयी है। इस शैली के कारण मुक्तिबोध की कल्पना का वितान विस्तृत होता चला गया और उसी क्रम में बिम्बों की मालिका भी बढ़ती चली जाती है - जिससे काव्य में जटिलता एवं दुरूहता दृष्टिगत होती है।

प्रगतिवादी काव्यान्दोलन और मुक्तिबोध :-

सन् १६४० के आसपास मुक्तिबोध के काव्य का स्वर धीरे-धीरे परिवर्तित होता प्रतीत होता है। छायावाद का कुहासा मस्तिष्क से हटने लगा और इसकी जगह एक वैज्ञानिक और तेजस्वी दृष्टिकोण नें ले लिया। यह दृष्टिकोण था मार्क्सवाद का। चालीस के

वाद की उनकी कविताओं में मार्क्सवाद का स्वर सुनाई पड़ता है। मार्क्स के अनुसार - "ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने जहां अनेक विधियों से भारत में साम्राज्यवादी विस्तार किया, वहीं क्रान्ति की जमीन भी तैयार की। भारत में औद्योगिक चेतना का एक प्रगतिशील नतीजा वर्ग चेतना के साथ दिखाई दिया। लेनिन ने तो प्रथम दशक में ही घोषणा कर दी थी कि भारत का मजदूर वर्ग जन क्रान्ति के योग्य हो चुका है। एक ओर भारतीय पूंजीपति वर्ग अपने वर्गगत स्वार्थों के कारण स्वाधीनता आन्दोलन और गाँधी को साथ दे रहा था, वहीं दूसरी ओर सामान्य जनता स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए किसी भी बलिदान की कीमत लगाने के लिए तैयार थी। इन स्थितियों से साहित्यकार भी प्रभावित हुए और एक ओर पंत, निराला जैसे कवियों नें सामाजिक समस्याओं, विषमताओं एवं दलित वर्ग को अपनी कविता का आधार बनाया तो दूसरी ओर बच्चन, नरेन्द्र शर्मा जैसे कवि एकान्तिक व्यक्तिगत पीड़ा और दुख के गीत गाने लगे। निराला और पंत की परम्परा नें प्रगतिवाद का रूप लिया।

मुक्तिबोध भी इसी साहित्यिक स्थिति पर दृष्टिपात करते हुए 'वस्तु और रूप' लेख में लिखा - "छायावादी प्रवृत्ति के विरूद्ध प्रगतिवाद का जो महान आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, वह एक विशेष काल में मध्य वर्ग की एक विशेष मनोवैज्ञानिक स्थिति का द्योतक है। हमारे राष्ट्रवाद नें राष्ट्रीय मुक्ति की जो कल्पना की थी उसका सार तत्व प्रगतिवाद में पूर्ण रूप से स्पष्ट रूप से स्पष्ट हुआ।"[१] प्रगतिवादी काव्य राष्ट्रीय काव्य है, राष्ट्रवादी आन्दोलन में बार-बार उठाये गये शोषण से सर्वांगीण मुक्ति के स्वप्न को वह तर्क संगत निष्कर्ष तक ले गया। निराला और पंत का इस आन्दोलन में आना या अन्यों का उसमें समीप रहना यही बताता है।

---

१. मु०र०च०, भाग - ५, पृ० १०४

भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना १९३६ में लखनऊ में हुई, जिसकी अध्यक्षता मुंशी प्रेमचन्द्र जी ने की थी, किन्तु प्रेमचन्द्र नें १९३६ के पहले की प्रगतिशील चेतना का प्रतिपादन प्रारम्भ कर दिया था, उनकी कहानियों में प्रगतिवादी तत्व स्पष्ट होने लगा था। मुक्तिबोध भी प्रारम्भ में प्रगतिवाद की ओर आकर्षित थे, किन्तु शीतयुद्ध कालीन प्रभावों के फलस्वरूप जब लेखकों में एक पक्षीय अतिरेक ही दिखाई देने लगा तो वे इसकी आलोचना करने से भी नहीं चूके। उन्होनें प्रगतिवादी साहित्य ही नहीं अपितु समीक्षा की भी आलोचना की थी।

प्रगतिवाद के पक्ष में मुक्तिबोध का वक्तव्य है – ''प्रगतिवाद प्रधानतः युग की आवश्यकता को लेकर चलता है, वह आवश्यकता जिसकी पूर्ति से समाज वर्गहीन, भेदहीन और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो सके। आज के जगत की मुख्य कमी शोषण सत्ता की भयानकता है, इसके सन्दर्भ में जो स्थिति समाज में पैदा हो गयी है, उस स्थिति में परिवर्द्धित मानव समुदाय के मनोविश्लेषण का कार्य प्रगतिवादी कला करती है और आगे के विकास की रूपरेखा निश्चित करती है।''[1] इस प्रकार मुक्तिबोध नें प्रगतिवाद को अपनी स्पष्ट साहित्यिक दृष्टि के आधार पर स्वीकार किया था किन्तु जब उसमें मार्क्सवाद के नाम का मुलम्मा चढ़ाया जाने लगा तो मुक्तिबोध अपनी सैद्धान्तिक जीमन से जुड़कर कविता करते रहे। प्रभाकर श्रोत्रिय नें एक जगह लिखा है ''मुक्तिबोध छायावादी युग को लांघ कर जब प्रगतिवादी कामरेडों के साथ खड़ा हुआ, तो उसे पता चला कि शोषितों का मसीहा खुद उसकी शव यात्रा में सम्मिलित है और राजनीतिज्ञों के हाथ में हाथ डाले नारे लगा रहे

---

१. मु०रच०, भाग – ५, पृ० १०४

हैं।"१

प्रगतिवाद की इस वास्तविकता को मुक्तिबोध नें समझा और स्पष्ट लिखा - "प्रगतिवादियों के व्यवहार द्वारा यह सूचित होता है कि मुक्ति संघर्ष राष्ट्र प्रेम, प्राकृतिक सौन्दर्य, नारी सौन्दर्य, प्रगतिवादी यथार्थ आलोचना भावना, आशा, उत्साह तथा तत्समान अन्य भावों को प्रगतिशील समझते हैं, परन्तु शेष सब भावनाएं जैसे भयानक, ग्लानि, निराशा, अनाक्षा, वैफल्य तथा इसी श्रेणी की अन्य भावनाएं प्रतिक्रियावादी हैं। इस प्रकार लगता है मानों एक योजनाबद्ध विभाजीकरण हो।"२

प्रगतिवादी साहित्य और समीक्षा की एकांगिता की आलोचना करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं - "प्रगतिवादी समीक्षा और प्रगतिवादी साहित्य नें मनुष्य के मात्र सामाजिक, राजनैतिक पक्ष पर खूब जोर दिया है। उसके शेष पक्षों पर तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम बल रहा या नहीं रहा, परिणामतः पाठक के सामने मनुष्य का ही चित्र प्रस्तुत हुआ वह एकपक्षीय ही था। उसमें मानव सत्ता की सर्वांगीण प्रगतिशील दृष्टि का स्पष्टीकरण नहीं था।"३ प्रगतिवादी समीक्षकों के लिए मार्क्सवाद के प्रखर समीक्षक प्रमोद वर्मा नें स्पष्ट रूप से लिखा है कि - "सुनने में बात कड़वी जरूर लगेगी, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्सवादी समीक्षकों द्वारा कलात्मक मूल्यों के अति सरलीकरण और अति सामान्यीकरण के किये जाने के फलस्वरूप ही मूल्यांकन के क्षेत्र में भयानक अराजकता तथा असंगतियां पैदा

---

१. तटस्थ, मई १९७१, पृ० ५२

२. मु० रच०, भाग - ५, पृ० १२९-३०

३. मु० रच०, भाग - ५, पृ० ३५७

हुई।"[1]

उपर्युक्त समस्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध मार्क्सवाद से प्रभावित अवश्य थे परन्तु उनके आधार पर हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का जो स्वरूप स्पष्ट होकर सामने आया उसका समर्थन वे नहीं कर सके।

उनकी दृष्टि व्यापक थी। वे मानवता के बहुत बड़े हिमायती थे इसका प्रमाण उनकी कविता 'अपने कवि से' स्पष्ट है। यह कविता १९४३ में बंगाल के भयंकर अकाल पर लिखी गयी है जिसमें लाखों लाख लोग भूख से तड़प-तड़प कर मर गये थे इस दुर्भिक्ष नें साहित्यकारों को हिला दिया तभी मुक्तिबोध लिखते हैं -

कवि, आज भी मानव

यहां पर मरे चूहे सा उपेक्षित है।

वह बैल गाड़ी के अचानक राह में

दो भग्न पहियों सा पराजित

युद्ध में टूटे हुए उद्धवस्त पुल सा

वह विदारित।

x x x x

सहज अनजान !

जर्जर मलिन आचार सा अनाहत दीन।

बूढ़े करूण धुंधले लोचनों सा

हलफनामा, प्रमोद वर्मा, पृ० ६३

मलिन तेजोहीन ।"१

मुक्तिबोध पूंजीवादी व्यवस्था का घोर विरोध करते थे। यह व्यवस्था मानवता का, सत्य का गला घोंटकर, असत्य को, अवसरवाद को प्रश्रय देती है, जन-जन का शोषण, दमन ही उसकी नीति है, बड़े-बड़े साहित्यकार, कलाकार, राजनीतिज्ञ इसके शिकंजे में हैं और थोड़ी सी सुविधा के लिए अपने आदर्शों की धज्जियां उड़ा देते हैं अपने आपको शोषकों के हाथ बेच देते हैं।

बड़े-बड़े मसीहा

सरकस के जोकर से रिझाते हैं निस्तर

नाचते हैं, कूदते हैं

शोषण के सिद्धहस्त स्वामियों के सामने।

मुक्तिबोध अपने काव्य में शोषक वर्ग के वैभव, अत्याचार की दारूण कथा कहते हैं और शोषित की मार्मिक व्यथा है। समाज की व्यवस्था का चित्रण है तो दूसरी ओर वर्गहीन समाजवादी व्यवस्था का सपना भी देखते हैं।

मुक्तिबोध इस पूंजीवादी व्यवस्था को नष्ट हुआ देखना चाहते है जो शायद सर्वहारा वर्ग ही कर सकता है और कराहती हुई मानवता को कष्ट विमुक्त कर सकता है-

"दे तोड़ तिलिस्मी शासन के शत चक्र व्यूह

दे जला खंडेरों के पीपल

---

१. मु०रच०, भाग-१, पृ-१६४

कर मुक्त"[१]

इस तरह स्पष्ट है कि शोषितों के चंगुल में फँसी सर्वहारा वर्ग संगठित होकर शोषकों की इस कारा को तोड़ सकता है। उसको ऊर्जा मार्क्स के दर्शन से मुक्तिबोध के साहित्य में प्राप्त होती है। मुक्तिबोध के साहित्य में यही प्रगतिशील तत्व उनको श्रेष्ठ एवं जन कवि के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

प्रयोगवादी काव्यान्दोलन और मुक्तिबोध :-

मुक्तिबोध 'प्रयोगवाद' को एक साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में ही देखना चाहते हैं। वे यह मानते हैं कि प्रयोगवादी प्रवृत्ति ऐतिहासिक कारणों से उत्पन्न हुई थी। प्रयोगवादी कवि के मन में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के विरूद्ध आक्रोश था। हिन्दी कविता में 'प्रयोगवाद' का आरम्भ नये प्रतीकों, बिम्बों के आधार पर कलात्मक अभिव्यक्ति लेकर आया। यह 'प्रयोगवाद', छायावाद और प्रगतिवाद दानों की सम्मिलित प्रक्रिया थी। मुक्तिबोध के अनुसार - "प्रयोगवादियों की तुलना में निसंदेह यह नये लोग अधिक कला मर्मज्ञ थे। किन्तु साहित्यिक प्रवृत्यों को वों एक भिन्न प्रकार की दिशा देना चाहते थे।"[२]

काडवेल का यह कथन - "प्रत्येक सोपान में पूंजीवादी विरोधाभास से कविता की वस्तु और शिल्प को एक नया विकास मिलता है।"[३]

हमारी तत्कालीन और १९२० से लेकर १९४० तक की सामाजिक, राष्ट्रीय

---

१. हंस, नवम्बर, १९५०

२. मु०रच०, भाग - ५, पृ ३५७-५८

३. इल्यूजन एण्ड रियलिटी, काडवेल, पृ० १७६

एवं राजनैतिक स्थितियों को सन्दर्भ में रखकर देखा जा सकता है। प्रगतिवादियों की सामाजिकता के साथ प्रयोगवादियों नें वैयक्तिकता को भी साहित्य में स्थापित किया।

तार सप्तक के आत्मवक्तव्य के माध्यम से हम उनकी प्रयोग सम्बन्धी धारणा से परिचित होते हैं - "जीवन के इस वैविध्यमय विकास स्रोत को देखने के लिए इन भिन्न-भिन्न काव्य रूपों को यहां तक कि नाट्य तत्व, कविता में स्थान देने की आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि इसी दिशा में मेरे प्रयोग हों। इस प्रकार मेरी ये कविताएं अपना पथ ढूंढनें वाले बेचैन मन की अभिव्यक्ति है। उनका सत्य और मूल्य इसी जीवन स्थिति में छिपा है।"१

इस वक्तव्य में मुक्तिबोध नें प्रयोग की परिधि को स्पष्ट किया है - "वैसे काव्य में जीवन के चित्र की - यथा वैज्ञानिक 'टाइप' को उद्भावना की अथवा तीव्र विचार की अथवा शुद्ध शब्द चित्रात्मक कविता हो सकती है। इन्हीं के प्रयोग मैं करना चाहता हूँ।"२

प्रयोगवादी अपने प्रयोगों को किसी वाद के घेरे में बाँधनें को उत्सुक नहीं थे। स्वयं अज्ञेय नें तारसप्तक की भूमिका में स्वीकार किया था - "प्रयोग का कोई वाद नहीं है हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। प्रयोग अपने आप में इंट या साध्य नहीं है।"३ और लगभग यही बात मुक्तिबोध की समीक्षात्मक दृष्टि के द्वारा भी स्पष्ट होती है जब वे लिखते

---

१. तार सप्तक, प्र०सं०, १९४३, पृ० ४३

२. तारसप्तक, प्र०सं०, १९४३, पृ० ४३

३. तार सप्तक, द्वि०सं०, १९५२, पृ० ६

हैं – "तथाकथित प्रयोगवाद की कोई विशेष व्याख्या नहीं की जा सकती, साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में ही उसे देखा जा सकता है। यह निश्चित है कि प्रारम्भिक रूप से प्रयोगवादी कविताएं तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के विरूद्ध व्यक्ति द्वारा की गयी भावनात्मक प्रतिक्रियाएं हैं।"१

मुक्तिबोध प्रयोगवादी प्रवृत्ति से प्रभावित अवश्यक हुए थे किन्तु उनका जीवनगत अभिव्यक्ति लक्ष्य ही उसमें प्रौढ़ होकर अभिव्यक्त हुआ था। वे प्रयोगवाद की सीमाओं में अपने आप को नहीं रख पाए। इसलिए प्रयोगवादी खेमे से खोज अैर अन्वेषण की बात करने वालों पर उनकी प्रतिक्रिया दृष्टि पड़ती है, पर व्यंग्य करते हुए उन्होनें लिखा है – "कुछ लोग खोज पर विश्वास करते है, सतत् अन्वेषण, सतत् अनुंधान के पथ का नाम लेने वाले लोग कम नहीं किन्तु अनुसंधान और अन्वेषण का 'थियोराइजेशन' (केवल विचारणा, केवल सिद्धान्त स्थापना) ही किया जाता है।"२

"दूसरे शब्दों में सतत् अन्वेषण और अनुसंधान का बाजा बजाने वाले लोग वस्तुतः प्रयोग नहीं कर रहे हैं, वे घेरे में फंसे हुए लोग हैं।"३

मुक्तिबोध अन्ततः प्रयोगवादियों के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा प्रस्तुत करते हैं – "प्रयोगवादियों में यह विशाल चेतना नहीं आ पायी है, जिसे हम महत्व देते हैं। कुछ कवि तो मात्र मानसिक प्रत्याघातों का चित्रण करके ही चुप रह जाते हैं, अन्यों नें कुछ

---

१. मु०रच०, भाग-५, पृ० २६०

२. मु०रच०, भाग-५, पृ० ३४७

३. मु०रच०, भाग-५, पृ० ३४६

महत्वपूर्ण प्रयोग किये हैं। इनको देखकर यह आशा होती है कि आगे चलकर नये कवि अपने विशाल उत्तरदायित्वों का निर्वाह अधिक सफलतापूर्वक कर सकेंगे।"१

नयी कविता आन्दोलन और मुक्तिबोध :-

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कवियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आया, और इस परिवर्तन के फलस्वरूप कविता में नया रूप आना स्वाभाविक था। 'नयी कविता' स्वतंत्रता के बाद लिखी गयी उन कविताओं को कहा गया, जिनमें परम्परागत कविता से आगे नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प - विधानों का अन्वेषण किया गया। यह अन्वेषण साहित्य में कोई नई वस्तु नहीं है। दूसरे सप्तक के पश्चात् कविता में ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि नयी कविता का विकास होता है। जैसा कि मुक्तिबोध नें स्पष्ट किया है - "स्वाधीनता पूर्व के काल में जो 'नयी कविता' बढ़ी है वह अलग ढंग से बढ़ी है। 'नयी कविता' के उत्थान या प्रारम्भ का श्रेय एक व्यक्ति को देना अनैतिहासिक होगा। हम लोग किसी के प्रभाव में नहीं थे, न हम किसी को प्रभावित कर रहे थे। स्वाधीनता काल शुरू होते ही साहित्यिक क्षेत्र में अवसरवाद की बाढ़ आ गयी, सरकारी नौकरियों में तो साहित्यकार पहुंचे ही उन्होनें अपने को साहित्य क्षेत्र में आयी हुई नयी पीढ़ियों से प्रथक कर लिया। इस अवसरवाद की बाढ़ में प्रगतिवाद सूख गया। ------------------ उन्हीं दिनों नयी कविता का दूसरा उत्थान शुरू हुआ।"२ इसी सन्दर्भ देवी शंकर अवस्थी का यह कहना सही लगता है कि - "प्रयोगवादी और प्रगतिवादी

---

१. मु०रच०, भाग-५, पृ० २६२

२. मु०रच०, भाग-५, पृ० १०८

कवियों की यह पीढ़ी परिस्थितियों की मार से बीच-बीच में लड़खड़ाती रही, पर विवेक को यथासम्भव स्थिर बनाये रखा। सन् १९५० के बाद दोनों के मध्य के मिथ्या भ्रम दूर होने प्रारम्भ हुए, तथा कहीं अधिक दृढ़ विवेक निष्ठा पर 'नई कविता' की समन्वित स्थापना हो सकी।"१

मुक्तिबोध स्वयं नयी कविता को स्वरूप और दिशा देने वाले कवियों में अग्रणी रहे हैं। वे नयी कविता की शक्ति और उसकी दुर्बलता दोनों से परिचित थे। उन्होनें १९४० से लेकर १९६२ तक समय-समय पर "नयी कविता" के सम्बन्ध में अनेक मूल्यवान विचार प्रस्तुत किये हैं। आधुनिक हिन्दी कविता में यथार्थ आधुनिक काव्य की चिन्ताजनक स्थिति, प्रयोगवाद नयी कविता एक दायित्व, नयी कविता और आधुनिक भाव बोध, छायावाद और नयी कविता, हिन्दी काव्य की नयी धारा, नयी कविता की प्रकृति, नयी कविता का आत्म संघर्ष, नयी कविता की अन्तः प्रकृति, वर्तमान और भविष्य, नयी कविता निःसहाय नकारात्मकता, आदि निबन्धों में मुक्तिबोध नें नयी कविता के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं उनका ऐतिहासिक महत्व है। महत्व इसलिए भी है कि मुक्तिबोध स्वयं नयी कविता के विकास की पूरी कालावधि में स्वयं भी सृजनरत थे। वे १९४० से लेकर १९६० तक के भारतीय सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू के दृष्टा और भोक्ता दोनों थे। इसलिए उनके विचारों का विशेष महत्व है।

नयी कविता का जन्म :-

मुक्तिबोध की दृष्टि में छायावाद नें जीवन की यथार्थ स्थितियों का

---

१. रचना और आलोचना, देवी शंकर अवस्थी, पृ० ८६

आदर्शीकरण और उदात्तीकरण कर दिया था। छायावादी कवि जीवन के प्रश्नों को भावुकता प्रधान कल्पना-मूलक आदर्शवादी दृष्टि से देखता था। सौन्दर्य, दुख-कष्ट, क्रोध, क्षोभ, प्रेम, करूणा आदि का है। छायावादी काव्य सृष्टि में जिन्दगी की असलियत लापता है। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल की यह शिकायत रही है कि छायावाद में काव्य की अर्थ-भूमि संकुचित हो गयी है। इस प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। इसलिए मुक्तिबोध की मान्यता है कि- "नयी कविता का जन्म छायावादी व्यक्तिवाद के विरूद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की ही बगावत थी। यह बगावत इसलिए सम्भव थी कि देश की बिगड़ी हुई दशा में मध्यवर्ग के साधारण व्यक्ति का जीवन असह्य हो उठा था। ऐसा व्यक्ति यह सोचता था कि तत्कालीन रोमैंटिक कविता कम से कम उसके कष्टगत जीवन के मनोभावों के यथार्थ को तो उभारे।"१

रोमैन्टिक प्रवृत्ति के प्रति बगावत स्वभावतः बुद्धिवाद की ओर ले जाती है। इसलिए नया कवि जीवन की समस्याओं को बौद्धिक दृष्टि से देखने लगा और उसकी चित्रण पद्धति भी बहुत कुछ बौद्धिक हो गयी। मुक्तिबोध यह स्वीकार करते हैं कि छायावाद के विरूद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न नयी कविता में दो बाते मूलभूत विशेषता के रूप में विद्यमान थीं - १. बौद्धिकता के कारण यथार्थवादी आत्मचेतना और २. व्यक्तिवाद का आत्मकेन्द्रित स्वरूप अर्थात वास्तविक सुख - दुख की सामाजिक पार्श्वभूमि और ऐतिहासिक शक्तियों के प्रति सघन रागात्मक सम्बन्ध भी क्षीण था। मुक्तिबोध के अनुसार नयी कविता की अन्य विशेषताएं इन्ही दो विशेषताओं में समाहित हैं। वे इन्हीं के आनुषंगिक प्रभाव से उत्पन्न हैं।

---

१. मु०रच०, भाग - ५, पृ० ३१८

सामाजिक स्थिति और कवि का संवेदनात्मक सम्बन्ध :-

मुक्तिबोध का काव्य ही नहीं सम्पूर्ण साहित्य भी समाज में गहरा सरोकार रखता है, इसलिए नयी कविता पर चर्चा करते हुए कवि से तत्कालीन सामाजिक संदर्भों से जुड़ने का आग्रह करते हैं - "आज का कवि एक असाधारण, असामान्य युग में रह रहा है, वह एक ऐसे युग में है, जहां मानव-सभ्यता सम्बन्धी प्रश्न महत्वपूर्ण हो उठे हैं। समाज भयानक रूप से विषमताग्रस्त हो गया है, चारों ओर नैतिक ह्रास के दृष्य दिखाई पड़ रहे हैं। शोषण, उत्पीड़न, नोच-खसोट, असरवाद, भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। कल के मसीहा आज उत्पीड़क हो उठे हैं। अध्यात्मवादी विचारक जनता से दूर जा बैठें हैं। अधिकांश समीक्षकों का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वे जीवन के कलात्मक साहित्यिक बिम्बों की व्याख्या तो करेंगे, किन्तु जीवन से दूर रहेंगे। समाज के भीतर के विभिन्न वर्गों की खाइयाँ और भी चौड़ी हो गयी हैं। यहां तक कि मध्यवर्ग में भी दो श्रेणियां पैदा होकर अपनी परस्पर दूरी खतरनाक तरीके से गहरी और चौड़ी कर रही हैं।"[१]

तत्कालीन सन्दर्भों में मुक्तिबोध यह जानते थे कि - "नये कवि के पास कोई सर्वांगीण दार्शनिक विचारधारा नहीं है।"[२]

इसलिए वे प्रकृतिगत गुण की स्थितियां मानव को संवेदित करती हैं। कवि की उपेक्षित जीवन दृष्टि का कारण वे उच्चवर्गीय सम्पन्न विलायती संस्कारों से उत्पन्न सौन्दर्याभिरुचि को मानते हुए कलात्मक विकास के सम्बन्ध में कहते हैं -- "हमारी साहित्य

---

१. मु०रच०, भाग-५, पृ० १६१

२. मु० रच०, भाग-५, पृ० १६४

चिंता या कलात्मक सृष्टि का विकास तभी होगा, जब हम वास्तविक जीवन में व्यापक तथा विविध जीवनानुभवों से सम्पन्न होंगे तथा हम विक्षुब्ध उत्पीड़ित मानवता के (वायवीय नहीं मूर्त) आदर्शों से एकात्म होंगे।"१

नये कवि की अभिव्यक्तिगत परिसीमा :-

मुक्तिबोध नें इस सम्बन्ध में लिखा है कि -- "नया कवि वाहृय के प्रति संवेदनशील है। इस संवेदना को वह आत्मपरक रूप में प्रकट करता है, किन्तु छायावादियों और प्रगतिवादियों की भाँति कोई दार्शनिक विचारधारा उसके पास नहीं है।"२

नयी कवितागत शैली पर दृष्टिपात करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं कि - "केवल आत्मपरक तीव्र संवेदनाघातपूर्ण मानसिक प्रतिक्रिया करने वाली काव्य शैली को अधिक लचीली, अधिक सक्षम, अधिक सम्पन्न बनाना होगा ------------। पुरानी शास्त्रीय शब्दावली में कहा जाये तो उसे भावपक्ष के साथ विभाव पक्ष का चित्रण करना होगा।" ३

वे कवि के साहित्यिक संघर्ष की बात करते हुए कहते हैं - "सच बात तो यह है कि आज के कवि को एक साथ तीन क्षेत्रों में संघर्ष करना है। उसके संघर्ष का यह विविध स्वरूप है या होना चाहिए - १. तत्व के लिए संघर्ष २. अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष ३. दृष्टि विकास का संघर्ष। प्रथम का सम्बन्ध मानव वास्तविकता के

---

१. मु०रच०, भाग-५, पृ० ३३४

२. मु०रच०, भाग-५, पृ० २२६

३. मु०रच०, भाग-५, पृ० ६२

अधिकाधिक समय उद्घाटन अवलोकन से है, दूसरे का सम्बन्ध चित्रण सामर्थ्य से है और तीसरे का सम्बन्ध थियरी से है, विश्व दृष्टि के विकास से है, वास्तविकता की व्याख्या से है। यह त्रिविध संघर्ष है।''१

पारिवारिक और सामाजिक विक्षेप से उपजी वैयक्तिकता से भी मुक्तिबोध पूर्णतः परिचित थे, इस सम्बन्ध में उनका तर्क था - ''जब मानव बाहर और भीतर सब ओर से दबाया जाता है, उसका दमन किया जाता है, स्वतंत्रचेता की मानवोचित बातों को असंगत माना जाता है, जो व्यक्ति व्यक्तिवादी हो जाता है।''२

फिर भी वे चाहते थे कि - ''नयी कविता व्यक्तिगत भावना के धरातल पर भी समाज के शोषकों और उत्पीड़कों के विरूद्ध - आवाज उठाये, विषम समाज के भीतर गरीब मध्यवर्गीय जनता की स्थिति से उसे लगाव हो। मानवता या मानवतावाद में उसकी आस्था वायवीय न होकर मूर्त हो।''३

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' शीर्षक कविता में मुक्तिबोध अत्याचार एवं शोषण के विरूद्ध षड़यंत्र की एक रात का चित्रण करते हुए लिखा -

धरती का नीला पल्ला कांपता है

यानी आसमान कांपता है,

आदमी के ह्रदय में करूणां की रिमझिम,

---

१. मु०रच०, भाग-५, पृ० ६६

२. मु० रच०, भाग - ५, पृ० ३५६

३. मु०रच०, भाग-५, पृ० १२६

काली इस झड़ी में

विचारों की विक्षोभी तड़ित कराहती

क्रोध की गुहाओं का मुह खोले

शक्ति के पहाड़ दहाड़ते

इस झड़ी में वेदना की तड़ित कराहती

मदद के लिए अब

करूणा के रोंगटों में सन्नाता

दौड़ पड़ता आदमी,

व आदमी के दौड़नें के साथ - साथ

दौड़ता जहान

और दौड़ पड़ता आसमान।''१

मानव के इस सम्मिलित प्रयास से शोषण का अंधकार दूर होगा एवं मानवता को नया सवेरा, एक नूतन प्रकाश मिलेगा।

नयी कविता और आधुनिक भाव बोध :-

मुक्तिबोध नयी कविता में आधुनिक भाव बोध की बात तत्कालीन भारतीय संदर्भों में करते हैं, क्योंकि उस समय प्रयोगवादी कवि पाश्चात्य साहित्य के आधार पर आधुनिक बोध की बात कर रहे थे, मुक्तिबोध नें इस स्थिति से चिंचित होकर लिखा है - ''महत्व की बात केवल इतनी है कि आधुनिक संवेदना एक विशेष परिभाषा की सीमा के

'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० ४४

अन्तर्गत नहीं लायी जा सकती। ------------- किन्तु खेद की बात यह है कि आधुनिकता के आदर्शभूत देश यूरोप अमेरिका माने गये हैं।"१

अर्थात मुक्तिबोध आधुनिकतम् भावबोधों को अपनी ही समकालीन सामाजिक स्थिति से उत्पन्न मानते हैं। युगानुरूपता के अर्थों में वे आधुनिक भावबोध को इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं - "मैं अपनी खुद की जिन्दगी और दोस्तों के तजुर्बे से बता सकता हूँ कि अन्याय के खिलाफ आवाज बुलंद करना, आधुनिक भाव बोध के अन्तर्गत है। ----------- क्या यह आधुनिक भाववोध नहीं है कि मैं अपनी लेखनी द्वारा किसी विशेष लोकादर्श के लिए कविताएं लिखूं।"२

पाश्चात्य भावों से ग्रस्त कवि की मानसिकता को भी सचेत किया है। इस प्रकार मुक्तिबोध ने नयी कविता की अपनी अलग व्याख्या की है। उसके आधार पर ही वे उसके पक्ष में थे। यही कारण है कि वे समसामयिक नयी कविता से अपने को अलग पाते हैं, और उसकी विषयगत दृष्टि की कमजोरी पर अपनी समीक्षात्मक कलम चलाने में जरा भी नहीं हिचकते हैं। नामवर सिंह भी मुक्तिबोध की इस पहल का अपनी पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' में इस प्रकार उल्लेख किया - "उन दो एक कवियों में मुक्तिबोध अग्रणी थे, जिन्होनें शुरू से ही नयी कविता के इस समझौतावादी रूख का विरोध किया। वे लगातार इस बात पर जोर देते रहे कि यथार्थ दर्शन से उत्पन्न होने वाली कुण्ठा किस प्रकार रोमांटिक ढंग की सौन्दर्याभिरूचि से मुँह छिपानें की कोशिश कर रही है।"३

---

१. मु०रच०, भाग-५, पृ० ३१२
२. मु० रच०, भाग-५, पृ० १६२
३. नयी कविता के प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ० ३४

नये कवि को प्रेरित करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं कि - "यदि हमारा नया कवि मूल्य व्यवस्था विकसित करते हुए मानव समस्या चित्रित करता है तो निःसन्देह वह युग परिवर्तन करने का श्रेय भागी होगा। भेल ही उसे श्रेय मिले या न मिले।"१

इस प्रकार मुक्तिबोध अपने स्वानुभूति सिद्धान्तों के आधार पर नयी कविता में जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि के खिलाफ भी रहे और अपनी इसी आलोचनात्मक दृष्टि के कारण नये कवियों में उपेक्षित भी रहे। मुक्तिबोध की नयी कविता में स्थिति का मूल्यांकन करते हुए डा० नामवर सिंह को लिखना पड़ा कि - "मुक्तिबोध को छोड़कर, नयी कविता का स्वीकृत होना इस बात का पक्का प्रमाण है, कि नयी कविता नें कहीं न कहीं पूर्ववर्ती रोमांटिकता के साथ चुपचाप समझौता कर लिया था, इस बारे में नयी कविता के अन्तर्गत मुक्तिबोध की स्थिति बहुत कुछ वही है जो छायावाद के अन्तर्गत निराला की थी।"२

---

१. नयी कविता के प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ० २०३

२. नयी कविता के प्रतिमान, डा० नामवर सिंह, पृ० ३४

अध्याय - पंचम

मुक्तिबोध की जन चेतना की काव्य शिल्प में अभिव्यक्ति

कविता का स्वरूप :-

'मुक्तिबोध' का काव्य तीन रूपों में उपस्थित होता है। प्रथमतः कविताएं जिस रूप में पत्र-पत्रिकाओं में उपस्थित हुई, दूसरे जिस स्वरूप में यह कविताएं 'चॉद का मुँह टेढ़ा' और 'भूरी-भूरी खाक धूल' कविता-संकलनों मे प्रकाशित हुई और तृतीय रूप वह जिस रूप में मुक्तिबोध-रचनावली में प्रकाशित हुई।

मुक्तिबोध की प्रारम्भिक रचनाएं (अतिलघु) लघुआकारी हैं। यह कुछ तुकांत, लयबद्ध और छायावादी प्रभाव से युक्त भी हैं। समय के साथ परिवर्तन आया और यह परिवर्तन रचना, आकार, भाषा के क्षेत्र में है। यहाँ तक कि उनकी हृदय की प्यास, 'तू और मैं', जैसी कविताओं के बाद यदि कोई पाठक चम्बल की घाटी, ब्रह्म-राक्षस, अँधेरे में कविताएं पढ़े तो उनका रचनाकार पहचानना असंभव नहीं तो मुश्किल अवश्य हो जायेगा। यह अन्तर अवश्य ही परिवर्तित परिस्थितियों, विचारों में अन्तर और दुनिया के तजुर्बे का ही माना जा सकता है। वैसे निराशा और संघर्ष की भावनाएं हमें प्रारम्भ से ही दिखाई देती हैं। जैसे मरण का संसार, मरण-रमणी, जागृत असफलताएं आदि हैं। कालान्तर में यह भावना दीर्घ होती चली गयी और कवि कविता को समाप्त करने की कला भूलता ही गया, भूलता ही गया। उसने क्षणिक उच्छ्वासों की कविता को बेमानी और छोटी कविताओं को अधूरी बताया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी अंतिम कविता जो कि लगभग ३०० कविताओं का सम्मिलित रूप, सारांश, भावार्थ कही जा सकती है यहॉ तक कि उसे हम

कवि की 'परम-अभिव्यक्ति' भी कह सकते हैं अंधेरे में लिखी। यहाँ मुक्तिबोध के अंतस् का पूर्ण रूप ही अभिव्यक्ति पा रही है।

लघु आकारी कविता :-

कवि नें अपने काव्य-जीवन के प्रारम्भ में छोटी-छोटी कविताएं लिखी हैं। ये कविताएं छायावादी चेतना से युक्त हैं। उसी तरह के भाव, भाषा, गेयता और कुछ-कुछ छन्दात्मकता से युक्त ये कविताएं हैं। समय के साथ ही कविता की कविताएं लम्बी होती गई, कविता को समाप्त करना उसके लिए एक समस्या हो गया। यहां हम कवि की इन छोटी-छोटी कविताओं के प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं।

प्रथम कविता है, रचनावली भाग एक की 'हृदय की प्यास'। इसमें कवि प्रेयसी से प्रणय की याचना कर रहा है और प्रकृति का उदाहरण देता हुआ, प्रणय स्वीकारने की बेला का इन्तजार। इस प्रकार यह कविता श्रृंगार के भाव को उभारती है।

'बांहे पसारे बोला था आकाश' में पृथ्वी और आकाश का वार्तालाप आकर्षक है। आकाश पृथ्वी से कहता है -

काश, तुम मेरे उर में सिमटी होती
सिमट सकीं होती जीवन में।"[१]

और पृथ्वी अपने जवाब में प्रेम को जीवन की कर्मण्यता से जोड़ देती है, उसके लिए कर्म महत्वपूर्ण है, वह कहती है -

आलिंगन में बंध, निरूद्ध होकर

---

१. मु०रच०, भाग-१, पृ० ३१५

विचरण कैसे कर पाती मैं

आकर्षणमय

भव्य तुम्हारे चन्द्र-सूर्य नक्षत्र-समन्वित नील जगत में-।"[१]

उत्तर सुन आकाश स्वयं पृथ्वी के दृश्यों में अपना रूप दिखाने लगता है। भाषा, वार्तालाप, शैली, आर्कषणमय और साथ ही कर्म को महत्व देने का भाव जागृत करती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि ये छोटी-छोटी कविताएं एक पूर्ण प्रभाव तो मन पर नहीं डाल पाती परन्तु भाव का स्पर्श अवश्य कर जाती हैं। कविताएं हृदय में भाव तो उभारती हैं, परन्तु उसकी पूर्ण अन्विति के पूर्व ही समाप्त हो जाती है। ये कवि की मानसिक अवस्था की झलक मात्र प्रस्तुत करती हैं। ये कविताएं तो उन लहरों के समान हैं जो स्पर्श कर तुरन्त लौट जाती हैं या कहें कि उन चपलाओं के समान जो अपनी आभा विकीरित कर क्षण मात्र में लुप्त हो जाती है, तात्पर्य यही कि यह भाव जगाती मात्र हैं। ये भावों और विचारों की झलक खण्डों में दिखाने का प्रयास करती हैं।

मध्यम आकारी कविता :-

ये कविताएं जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, मध्यम आकार की है। ये कविताएं प्रतीत होता है जैसे एक निश्चित रूपरेखा के पश्चात् निश्चित भाव और विचार को लेकर लिखी गयी हैं। इसमें अनावश्यक विस्तार नहीं पाया जाता है, जिससे कथ्य स्पष्ट और सम्प्रेषणीयता से युक्त हैं -

---

१. मु०रच०, भाग-१, पृ० ३१५

एक कविता है 'ओ कलाकार'। कवि कलाकार को निम्नवर्ग का चित्रण करने और थोथी सुन्दरता की परवाह न करने को कहता है। भाषा आकर्षण से युक्त है। अन्तिम खण्ड देखिए -

'वे कहते हैं यह भाषा विचित्र, जिसमें हैं शब्द कला-हीन, जिसमें प्रयोग है ग्राम्य और, वे अति कठोर जो भी नवीन पर तू सुन मत ओ कलाकार, तेरे शब्दों में लाख-लाख, दिलवालों के रहते उद्गार।''१

ऐसी ही एक प्रसिद्ध कविता है 'दिमागी-गुहान्धकार का औरांग-उटांग।' इसमें कवि हमारे समाज की वास्तविक स्थिति को दिखाता प्रतीत होता है। यह आज के जीवन में सर्वव्यापी औरांग-उटांग हमारे जीवन में दिखाई देता है और पाठक कवि को, उसकी भाषा को मानों धन्यवाद देता है। इस सर्वविदित तथ्य को कवि बहुत ही आकर्ष तरीके से प्रस्तुत करता है, प्रारम्भ में प्रस्तावना है, फिर उस जानवर का स्वयं में महसूस करना, फिर स्वयं का रूप वैसा अनुभव करना, फिर सभी में उसे देखना और अन्त में उसका प्रभावी स्पष्टीकरण। इसमें कवि का विस्मय का भाव भी झलकता है, जो पाठक भी महसूस करता है और उसमें बुरे भावों से बचने का विचार आता है। एक अन्य महत्वपूर्ण कविता है 'मुझे कदम-कदम पर' यह कविता व्यक्ति के क्या करें क्या नहीं करें जैसे विचार कई करणीय विचारों और अनिर्णयशीलता की स्थिति को प्रकट करता है। आज का व्यक्ति इतना भ्रमित है कि उसे हर विचार सही, सोद्देश्य महसूस होता है, कवि भाषा देखी जो सकती है -

'मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में

१. मुक्तिबोध रच०, भाग-१, पृ० ८४-८६

चमकता हीरा है"१

यह विचार बहुलता उसे हर क्षेत्र में मिलती है और वह अन्त में कहता है-

लेखक की कठिनाई यह नहीं कि

कमी है विषयों की

वरन् अधिक्य उनका ही

उसको सताता है,

और वह ठीक चुनाव कर नहीं पाता है।"२

ये कविताएं प्रभाव की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट कविताएं हैं। ये बहुत अधिक संक्षिप्त भी नहीं हैं जो भाव को भाव के रूप में जागृत ही न कर सकें और न हीं अति विस्तृत जिसमें भाव लुप्त हो जाते हैं। इस कविताओं में कवि एक निश्चित विचारधारा, उसका खाका लेकर चला है, जिसमें कथ्य अधिक प्रभावी बन पड़ा है साथ ही कथ्य के विषय में किसी तरह के विरोधाभास भी उठ खड़े नहीं हुए हैं। इन कविताओं की प्रमुख विशेषता यह है कि ये एक बैठक में पूरी पढ़े जाने वाली कविताएं है, जिससे कविता बिना पेन, कापी की सहायता से भाव याद रखते हुए हृदयंगम कर लेता है।

दीर्घ-आकारी कविता :-

मुक्तिबोध की जो कविताएं मध्यम आकार की हैं, उनमें वर्ण्य विषय का बिखरा न होने के कारण एक प्रभावान्विति पायी जाती हैं। ब्रह्मराक्षस जैसी दो खण्ड वाली

---

१. मुक्तिबोध रच०, भाग-२, पृ० १७२

२. मुक्तिबोध रच०, भाग-२, पृ० १७३

कविताएं यद्यपि विषय पर केन्द्रित रहती हैं परन्तु कहीं-कहीं विषय के प्रति दृष्टि अस्पष्ट रखने के कारण प्रभाव की अन्विति नहीं हो पाती। इस कविता में ब्रह्मराक्षस के प्रति प्रारम्भ में जो हमारा भाव रहता है अंत तक वह भाव पुष्ट नहीं होता, बदल जाता है, उसके प्रति सम्वेदना जागृत हो जाती है ऐसा अन्य कविताओं में भी हुआ, परन्तु मुक्तिबोध की जो विशेषताएं अनेक खण्डों में विभाजित है जैस - अंधेरे मे, चम्बर की घाटी, ओ काव्यात्मनूफणिधर, एक प्रदीर्घ कविता, ऊँचे टीले मे प्रभावान्विति का सर्वथा अभाव है। पाठक को एक साथ इतनी अधिक बिखरी हुई मानसिक स्थिति असम्बद्ध वर्ण्य विषय और वर्णनों से गुजरना पड़ता है कि अन्तिम प्रभाव को उन सबका समन्वित प्रभाव नहीं कहा जा सकता। अतः कवि अंत में जिस विषय को प्रस्तुत करता है उसी का प्रभाव मन पर रह जाता है, इस दृष्टि से कुछ कविताओं का विवेचन उचित होगा।

प्रथम विवेच्य कविता है - 'चॉद का मुँह टेढ़ा है' जो कि इसी नाम के संकलन की महत्वपूर्ण कविता है। यह कविता दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में कवि किसी नगर का वर्णन करता है। धीरे-धीरे इनमें कथ्य स्पष्ट होता चलता है कि यह अत्याचारियों का नगर है। इसमें रहने वाला निम्नवर्ग इस समय के समाप्त होने की प्रतीक्षा करता है। यह खराब समय रात्रि का है जो उल्लू चॉदनी आदि जन-कल्याण के विरोधी घटकों के रूप में उपस्थित होते हैं। कवि नगर, व्यवस्था, जासूसों, तांत्रिकों का बहुत ही प्रभावी वर्णन करता है और वैसा ही प्रभावोत्पादक किन्तु वर्णन वह निम्न वर्ग का करता है-

हरिजन-बस्ती में, मन्दिर के पास एक, कबीठ के धड़ पर

मटमैले छपपर पर बरगद की ऐंठी हुई उभरी हुई जड़ पर

कुहासे के भूतों के लटके चूनर के चिथरे अँगिया व घाघर, फटी हुई चादरें

अटक गयी जिसमें एक व्यभिचारी टकटकी।"१

इसके पश्चात् कवि उस शोषक वर्ग में इसका समायोजन करता है, यह कहकर 'गंजे सिर', टेढ़े मुँह चाँद की ही कंजी आँख।"२

तत्पश्चात् कवि प्रथम खण्ड के अन्त तक दोनों तत्वों का वर्णन उपस्थित करता है। गाँधी, तिलक आदि सभी जो कि महान व्यक्तियों के प्रतीक हैं, उपस्थित होते हैं। सभी विरोधी तत्वों की जासूसी शोषक दल करता रहा है, कवि स्पष्ट करना चाह रहा है कि शोषक वर्ग भी घबराया हुआ है, जैसे ही भैरो ठहाका लगाता है कि चाँदनी के लिए कवि बहुत स्पष्ट शब्दों में अवतरित होने की बात करता है। द्वितीय खण्ड में कवि जुझारू मध्यम वर्ग का वर्णन करता है, उसके नगर को कवि लोहांगी कहता है। उसके पश्चात् कवि नगर और जमाने के माध्यम से आन्दोलन का तरीका बताता प्रतीत होता है और अन्त का वाक्य दोनों खण्डों को आपस में सम्बद्ध कर उसे अन्विति तक पहुँचा देता है -

'सुबह होगी कब और, मुश्किल होगी दूर कब।।"२

इस प्रकार यह कविता शोषण युक्त व्यवस्था से स्वार्थों को त्याग कर विद्रोह की प्रेरणा देता है, और हमें यह आशा दिलाता है कि वह व्यवस्था समाप्त होनी है,

---

१. मुक्तिबोध रच०, भाग-२, पृ० २७४

२. मुक्तिबोध रच०, भाग-२, पृ० २७५

३. मुक्तिबोध रच०, भाग-२, पृ० २८६

आवश्कता समय और कार्य की है। इस कविता में आये जामाना और शहर की वार्ता के स्थान पर यदि कोई और साधन क्रान्ति, या काव्य-नायक के द्वारा कथन का सहारा लेता तो शायद कविता ज्यादा प्रभाव डालती। यह वार्तालाप एक छिटकाव प्रतीत होता है। अन्धेरे में एक लम्बी, कभी न खत्म होने वाली तो नहीं परन्तु समय बाद सत्य होने वाली कविता है। यह कविता आठ खण्डों में विभक्त है। इसका प्रारम्भ होता है कमरे में चक्कर लगाते व्यक्ति से और अन्त है परम-अभिव्यक्ति की खोज से। मध्य में परमपुरूष का सॉकल खटखटाना, प्रोसेशन, पागल का प्रलाप, मूल सत्य, व्यक्तित्वान्तरण, बरगद, निम्नवर्ग, मार्शल ला आदि आते हैं, परन्तु सम्पूर्ण कविता को पढ़नें के पश्चात् पाठक सारे कथानक से परे हटकर केवल परम अभिव्यक्ति की खोज स्मरण रख पाता है और मैं "उसका तू शिष्य है, वह तेरी गुरू है।"[१]

पंक्तियां प्रोसेशन, आत्मपरिणति, मार्शलला, पागल का प्रलाप, गॉधी, तिलक आदि वर्णनों की तो नहीं परन्तु ब्रह्मराक्षस, कविता की अवश्य याद आती है। इस कविता का प्रभाव वस्तुतः खंडशः अधिक है परन्तु सम्पूर्ण तो परम् अभिव्यक्ति की खोज है। प्रोसेशन, पागल का अपना प्रभाव तो खण्ड के अन्त में इतना होता है कि पाठक पागल को पूर्ण अभिव्यक्ति का रूप समझने लगता है। इसी प्रकार प्रोसेशन के उत्कृष्ट वर्णन से पाठक छब्बीस जनवरी का दृश्य देखने लगता है और संस्कारों में आबद्ध हिन्दुस्तारी पाठक इसे जब तक अपने मूल रूप में नहीं ले पाता है जब तक कि कवि हत्यारे डोमाजी का उल्लेख नहीं कर देता।

---

१. मुक्तिबोध रच०, भाग-२, पृ० ३५६

इस वर्णन के पश्चात् पाठक सोचने को मजबूर हो जाता है, वर्तमान हालात पर आज की सम्पूर्ण कार्य प्रणाली का चिट्ठा खोलता कवि एक-एक शब्द पाठक के अन्तस को छू जाता है। यही सब दिखाता है।

पागल का प्रलाप उस शोषित मानव की, दास बने मध्यम वर्ग की स्थिति का वर्णन अत्याचार को दबा अत्याचारी नहीं वरन शोषित देता है, विरोध न करके।

मानवता उसे भी माफ नहीं करेगी। क्रान्ति का दृष्य, उसका मार्शल ला रूप में विरोध गुफा का दृष्य सभी कुछ प्रभावी बहुत है, परन्तु तभी तक जब तक की अग्रिम वर्णन नहीं आता। वर्णनों के साथ-साथ पाठक पिछला भूल जाता है और याद रह जाती है आत्माभिव्यक्ति। यह इतनी प्रभावी है कि कवि इसे ही कविता में संकलन में खोजन का प्रयास करता है। इस चौड़े-ऊँचे टीले पर, कविता २६ खण्डों में विभक्त कविता है। इसके सम्पूर्ण पठन के बाद पाठक को लगता है यह सब उत्तरदायित्व के निर्वाह न करने से हुआ है, परन्तु क्या तब हुआ है, का प्रभाव उस पर नहीं रहता है। बहुत समय तक तो वह वारों वाले अहाते का वर्णन करता है फिर उसे कोई कहानी याद आ जाती है, मार पड़ती है, व्यक्ति भी मिलता है, कोई मरी हुई स्त्री भी। कवि फिर अनेक वर्णनों के मध्य स्वयं के होने की संभावना व्यक्त करता है और फिर वृक्ष के माध्यम से स्वयं को दोष मुक्त करने का प्रयास, परन्तु अन्त वही दायित्ववोध वाली डाट से होता है- ....

जितना भी किया गया

उससे ज्यादा कर सकते थे

ज्यादा मर सकते थे,

अब काटँ-छाँट की बाट हर घड़ी है।"[1]

अन्तर्कथा वाली उस डाँट को याद दिलाती है जिसमें माँ कहती है -

तब देव बना

अब जिप्सी भी।

तात्पर्य यही कि यह प्रभावान्विति की दृष्टि से उतनी अच्छी नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार पुनः कहें तो कह सकते हैं कि यह कविताएं या तो अपनी-अपनी अलग-अलग खण्डोबद्व अन्विति रखती या फिर अन्विति कम बिखराव अधिक। अधिकांश कविताओं के अनावश्यक अति-विस्तार में आकर्षण और प्रभाव लुप्त प्राय हो गया है।

मुक्तिबोध की कविताअें में लघु आकार की जो कविताएं प्राप्त होती है, उनकी संरचना अन्य कवियों की सामान्य आकारी कविताओं से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। वस्तुतः उनमें स्थापत्य की दृष्टि से विवेचन करने के लिए विशेष बात दिखाई नहीं पड़ती। उनकी लम्बी कविताओं में स्थापत्य का कुछ वैशिष्ट्य है। मुक्तिबोध का महत्व भी इन लम्बी कविताओं के कारण ही है।

काव्य शिल्प :-

सृजन-प्रक्रिया पर विचार करते हुए मुक्तिबोध एक बड़ा ही सार्थक संकेत करते हैं कि "विभिन्न व्यक्तियों के लिए सृजन-प्रक्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं।"[2] विभिन्न

---

१. मुक्तिबोध रच०, भाग-२, पृ० ३८६

२. मुक्तिबोध रच०, भाग-४, पृ० ६३

कलाकारों के लिए अपनी एक विशिष्ट रचना-प्रक्रिया होने के कारण इस सम्बन्ध में मतों की विभिन्नता स्वाभाविक ही है। कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषय-वस्तु के अनुसार रचना-प्रक्रिया बनती और बदलती रहती है। उसका कोई एक निर्विशिष्ट सामान्य रूप नहीं हो सकता, यद्यपि उसके मूल-तत्व सर्व सामान्य ही होते हैं।

किसी भी कृति में भावना, कल्पना, बुद्धि-तत्व और संवेदनात्मक उद्देश्य सर्वसामान्य होते हैं किन्तु उस रचना को विशिष्ट रूप, उन तत्वों को मात्रा की विभिन्नता, अनुपात की विभिन्नता और प्रकार की विभिन्नता के अनुसार ही मिलता है। रचना को मात्राओं का यह योग विभिन्न संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार ही प्राप्त होता है। वे संवेदनात्मक उद्देश्य रचनाशील मन की अपनी निधि हैं, उसके पूरे अर्न्तजगत् के अंग हैं। रचना प्रक्रिया में भावना, कल्पना, बुद्धि और संवेदनात्मक उद्देश्य के साथ-साथ कवि के सम्पूर्ण जीवनानुभव का, उसके अर्न्तजगत् का, उसके अर्न्तव्यक्तित्व का इतिहास सन्निहित होता है। इसीलिए एक ही युग में पैदा होने पर भी, एक ही भाव-धारा के कवि होने पर भी निराला की रचना-प्रक्रिया वहीं नहीं है जो प्रसाद की है, क्रान्तिकारी भावधारा का कवि होने पर भी मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया वही नहीं है जो निराला की है।

मुक्तिबोध की कविता-कविता के सम्बन्ध में प्रचलित अवधारणाओं को बदलती है और अभिव्यक्ति के नये अर्थ-सन्दर्भों के साथ कविता के नये मुहावरे की तलाश करती है। वह समकालीन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिदृश्य की विद्रूपता का चित्रण करने के साथ-साथ मनुष्य के भीतर की खौफनाक कुरूपता को भी उजागर करती है।

'तारसप्तक' के 'पुनश्च' में कवि मुक्तिबोध की आत्मस्वीकृति से यह स्पष्ट है कि समय के अन्तराल में उनकी कविता का कलेवर भी दीर्घतर होता गया। कवि के शब्दों में "परिणामतः मेरी कविताएं कदाचित् मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन के योग्य भी नहीं रह गयी"१ अपनी कविता की सम्भावित लम्बाई-चौड़ाई देख कर उन्हें भय-सा लगता है। यह "भय इसलिए कि इतनी प्रदीर्घता हमारे यहाँ अच्छी नहीं समझी जाती। दूसरे यह कि उसके (मासिक पत्रों में) प्रकाशन में बडी असुविधा हो जाती है। अगर किसी व्यक्ति को पकड़कर आप उसे श्रोता बना भी लें, तब भी काम नहीं चलने का, क्योंकि उसकी प्रदीर्घता उबाने वाली होगी।"२

मुक्तिबोध में अपनी कविताओं के अधूरेपन का पूरा अहसास था। यह अहसास ही उनके प्रयासों को सार्थकता प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में उनकी आत्मस्वीकृति इस प्रकार है -

नहीं होती, कहीं भी खत्म कविता नहीं होती
कि वह आवेग-त्वरित काल-यात्री है।

इस अधूरेपन का दायित्व कविता से अधिक उस जिन्दगी पर ज्यादा है जो अपने आप में अधूरी है - 'बीच में टूट गये पराक्रम' की तरह। कविता के इसी अधूरेपन का समाधान उन्होनें शायद अपनी कहानियों के माध्यम से ढूँढ़ना चाहा था। उनकी कविताओं में जीवन के प्रति एक अटूट लगाव है। इसलिए यदि जीवन अधूरा रहा तो

---

१. तारसप्तक, पृ० ७५

२. मुक्तिबोध रच०, भाग-४, पृ० १७०

कविताएं भी अधूरी रहीं। उनका आग्रह काव्य को एक 'सांस्कृतिक प्रक्रिया' के रूप में देखने का था जिसके लिए एक सामाजिक संदर्भ आवश्यक है। इस सम्बन्ध में स्वयं उनका कथन है - "अधूरेपन की एक संस्कृति धीरे-धीरे 'मच्योर' होती जा रही है, प्रेम अधूरा, भ्रूण अधूरा, ज्ञान अधूरा, तर्क अधूरा, उम्र अधूरी, परिवार अधूरा और कविता तो अधूरी है ही. ...... वही अधूरापन, अस्तित्व का आदिम अधूरापन ....।"[१]

रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में मुक्तिबोध के विचार माईकेल एंजोली से मिलते-जुलते है - "शिल्प-कृति पूर्ण नहीं हाती .... आप तब तक नहीं रूकते जब तक कि वे आरम्भिक संवेग चूक नहीं जाते। संवेग चूक जाने पर भी यदि आप अपना कार्य जारी रखते हैं तो आपकी रचना बारीकियों के अतिरेक में डूब जायेगी........ ...।"[२] कला-कृति के "पूर्ण" हो जाने के सम्बन्ध में एंजोली और मुक्तिबोध के विचार-साम्य, इस सम्बन्ध में एक संकेत करते हैं।

जहाँ कभी भी अनुभूति के समाप्त हो जाने का एहसास होता है, मुक्तिबोध अपनी कविताओं को अधूरी ही छोड़ देते हैं - "और इस प्रकार की न मालूम कितनी ही कविताएं मैनें अधूरी लिखकर छोड़ दी हैं। उन्हें खत्म करने की कला मुझे नहीं आती, यही मेरी ट्रेजेडी है।"[३] यह "ट्रेजेडी" मुक्तिबोध के काव्य शिल्प की प्रमुख विशेषता है।

मुक्तिबोध की कविताओं का आरम्भ जिस संशोधन और रूपान्तरण की

---

१. राष्ट्रवाणी - मुक्ति०विशेषांक, पृ० १८

२. आलो, अक्टू०-दिस०, ७०, पृ० ५

३. मुक्तिबोध रच०, भाग-४, पृ० १७०

प्रक्रिया से होता है, वह उनकी 'परम अभिव्यक्ति' 'अन्धेरे में' तक जारी रहता है। उन्होनें अपनी कविताओं में अभिव्यक्ति के कितने अन्तर और वाह्य तनाव झेले हैं, उसे किस रूप में संशोधित, सम्पादित और अनुभूत किया है, इसका पता उनकी कविताओं के साथ-साथ उनके निबन्धों से भी चलता है।

मुक्तिबोध की कविताओ के रचना-विधान में 'फैंटेसी' की महत्वपूर्ण भूमिका है। कविता के संदर्भ में वे 'फैंटेसी' शब्द का प्रयोग काफी व्यापक अर्थ में करते है। वे 'फैंटेसी' की पद्धति से रची गयी कविताओ के सबसे बड़े कवि हैं। वे 'कामायनी' को भी एक प्रकार की फैंटेसी मानते हैं। इस प्रकार उनके काव्य-शिल्प में 'फैंटेसी' का महत्वपूर्ण योगदान है।

बिम्ब :-

कविता के सन्दर्भ में 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग आधुनिक काल की देन है। हिन्दी में इसका प्रयोग अंग्रेजी के 'इमेज' शब्द के पर्याय के रूप में हो रहा है। सबसे पहले कविता के मूल्यांकन के सन्दर्भ में 'इमेज' शब्द का प्रयोग पश्चिम में शुरू हुआ। पश्चिम की कविता में जब बिम्बवादियों का आन्दोलन चला तो उसमें कथा का प्रचलन गौण हो गया और उसका स्थान धीरे-धीरे बिम्ब लेता गया। इस प्रकार आधुनिक कविता में बिम्ब रचना-प्रक्रिया के साथ-साथ विषय के विधान के अन्तर्गत महत्वपूर्ण भूमिका पाने में समर्थ हुआ। फल यह हुआ कि पूरी कविता ही बिम्ब के रूप में लिखी जाने लगी। ऐसी रचनाओं के लिए आलोचकों ने यह प्रस्तावना की कि बिम्ब-सृजन की कला-सृजन है। कालांतर में बिम्बवाद के आन्दोलन के दौर में उसके स्वरूप-विश्लेषण में इतने विविध दृष्टिकोण अपनाए

गये कि उस पर कई क्षेत्रों से 'अनुशासनों' के आक्रमण शुरू हुए। फलतः उसका स्वरूप अस्थिर, जटिल, व्यापक एवं अमूर्त बन गया। फलस्वरूप "बिम्ब का स्पष्ट बिम्ब--इमेज की सही इमेज-जिज्ञासु के मन में स्पष्ट नहीं हो पाता।"१

कला-रचना के क्षेत्र में बिम्ब एक बहुत ही गहन और जटिल शब्द है, जिसका सामान्य लक्षण निर्धारित करना आसान नहीं है। अभी तक उसके जितने भी लक्षण बताये गये है उनमें उसमें निहित सम्पूर्ण अर्थवत्ता की प्रतीति नहीं होती । उसकी उपयेगिता इस बात में है कि वह किसी भाव या अनुभूति को अधिकाधिक ग्राह्य और सम्प्रेष्य बनाये, काव्य की मौलिक अनुभूति को कुछ अधिक तीव्र और संवेदनाशील बनाये। बिम्ब का काम कविता को अंलकृत और बोझिल बनाना नहीं है। संवेदनानुभूति को नये स्तर पर पुनर्निर्मित करना बिम्ब की सार्थकता है। बिम्ब भाव और विचारों के संवाहक होने के साथ-साथ अपने पीछे के कवि-मानस की सम्पूर्ण उलझनों और संघर्षों की भी सूचना देते हैं। इस प्रसंग में बिम्ब के संबन्ध में नागेश्वरलाल के ये विचार उद्धृत करने योग्य है - "एक सफल बिम्ब, पूर्ण परिपक्व विचार की अपेक्षा उसकी परिपक्वावस्था के घात-प्रतिघातों, अन्तर्विरोधों और विकल्पों को पूरी गहराई से प्रतिबिंबित करता है।"२ भाषा को संक्षिप्त, केन्द्रित और संगठित करना बिम्ब का महत्वपूर्ण काम है। ध्वनयात्मकता और सांकेतिकता के कारण बिम्ब काव्य--भाषा को अधिक संवेदनाशील और पारदर्शी बनाता है।

कोई भी चित्र मात्र अपनी ऐन्द्रिय प्रतीति के कारण ही बिम्ब नहीं हो

---

१. आस्था के चरण, भाग - १, डा० नागेन्द्र, पृ० १५३

२. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान - नागेश्वरलाल, पृ० २७

सकता, क्योंकि ऐसे, चित्रों में उन तत्वों का सर्वथा अभाव रहता है, जिनसे बिम्ब निर्माण होता है। कालरिंज भी इस बात से सहमत है कि कविता और उसके बिम्ब में पीछे कवि के अन्तःकरण में होने वाली दीर्घकालीन आत्मसंघर्ष की परम्परा रहती है जो उसकी शक्तिशाली वासना और आवेग से अनिवार्य तौर पर जुड़ी रहती है। अखबार के चित्रात्मक अंशों को केवल इसीलिए बिम्ब नहीं कहा जा सकता। उसमें कवि के व्यक्तित्व के वैसे बुनियादी आत्मसंघर्ष और तनाव का सर्वथा अभाव होता है जो एक बिम्ब के लिए आवश्यक है।

बिम्ब के निम्नलिखित प्रयोजन स्वीकार किये जा सकते हैं -

(।) काव्यार्थ का स्पष्टीकरण

(।।) भाव-संप्रेषण और भावोत्तेजन

(।।।) वस्तु या घटना प्रत्यक्षीकरण

(।।।।) सौन्दर्यानुभूति।

बिम्ब के भेदों का निर्धारण उसके विधायक तत्वों के आधार पर किया जाता है। इसमें उसकी ऐन्द्रियता प्रमुख है। ऐन्द्रियता के आधार पर बिम्ब के निम्न भेद हैं -

(१) चाक्षुष (२) श्रव्य (३) स्पर्श (४) गंध (५) स्वाद।

सर्जक कल्पना के आधार बिम्ब के भेद -

(१) स्मृति बिम्ब (२) कल्पित बिम्ब

प्रेरक अनुभूति के आधार पर बिम्ब के भेद -

(१) सरल (२) मिश्र (३) जटिल (४) समाकलित।

काव्यार्थ की दृष्टि से बिम्ब के भेद -

(१) एकल बिम्ब (२) संश्लिष्ट विम्ब

काव्य दृष्टि के आधार पर बिम्ब के भेद

(१) वस्तुपरक बिम्ब (२) स्वच्छन्द बिम्ब।

इनके अतिरिक्त खण्डित और समाकलित बिम्बो की भी प्रस्तावना की गई है।

छायावाद के बाद नई कविता के दौर मे हिन्दी में मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं, जिनमें सबसे अधिक उदात्ता और ओजस्विता है। उन्होनें नयी कविता में प्रतिष्ठित 'लघु मानव' के विपरीत 'सर्वहारा मानव' की अवश पीडा का चित्रण करते हुए, उसे भविष्य मे प्रतिष्ठित होते हुए देखने का स्वप्न संजोया था। उनकी आरम्भिक कविताऔं के रूमानी आवेश पर धीरे-धीरे तीक्ष्ण बौद्धिकता का नियंत्रण होता गया और इस तरह शोषित मानव के पक्ष में उनकी मुद्रा क्रमशः कठोर होती गयी। यह वह समय था जब नयी कविता के कवियों पर पश्चिम के बिम्बवादियों का गहरा असर पड़ रहा था। बिम्बवादी, कविता को लघु, चित्रात्मक, शुष्क और कठोर बनाने पर बल दे रहे थे। बिम्बवाद के प्रवर्तकों में से एक टी०ई० ह्यूम ने यह प्रस्तावना की थी कि कविता को अधिक से अधिक मूर्त और कठोर होना चाहिए। उन्होनें भावना को रूमानी चीज बताकर कल्पना को भी उससे सम्बद्ध कहा था और कविता को उन दोनों से मुक्त करना चाहा था। बिम्बवाद वस्तुतः एक तरह का रूपवाद था, जिसकी मान्यता यह थी कि सौन्दर्य लघु और शुष्क-कठोर वस्तुओं में होता है। स्वभावतः ह्यूम नें कविता में 'प्रत्यक्षीकरण' को ही विशेष महत्व दिया, विषय को नहीं।

हिन्दी अंग्रेजी साहित्य की तरह बिम्बवाद जैसा कोई आन्दोलन नहीं चला फिर भी हिन्दी की नयी कविता के कुछ विशिष्ट कवियों नें सुन्दर बिम्बों से निर्मित

कविताओं की रचना पर पर्याप्त बल दिया। इनमें 'नकेन' के कवि अग्रणी रहे। शमशेर नें भी बिम्बधर्मी कविताओं की रचना में पर्याप्त रूचि ली। इस प्रसंग में 'कृति' के प्रवेशांक में लिखित नामवर सिंह की उस पंक्ति का स्मरण प्रासंगिक होगा, जिसमें उन्होनें लिखा है कि- "वस्तुतः अंग्रेजी की आधुनिक कविता की तरह हिन्दी की नयी कविता का आरम्भ भी बिम्बवाद से हुआ है और इसका श्रेय अधिकांशतः शमशेर को है।"१ यह बहस तलब हो सकता है कि हिन्दी में बिम्बधर्मी कविताओं का आरम्भ किस कविता से हुआ, पर संदेह नहीं कि व्यर्थ के भाव प्रसार और 'विचारों की बकवास' से अलग हटकर शमशेर नें 'सूक्ष्म से सूक्ष्म मूर्त इन्द्रिय बोधों के दृढ़ आधार पर कविता का ढांचा खड़ा किया। छायावाद में जो कविता फेन अथवा फूल थी, उसे उन्होनें तराश कर हीरे की तरह कठोर बना दिया"२ मुक्तिबोध एक विशेष विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध होते हुए भी भावपूर्ण कल्पना की ऊँची उड़ान वाले लम्बी कविताओं के कवि थे। अतः उनकी कविताओं में उतनी ठोस और सघन बिम्बधर्मिता की गुंजाइश कम ही थी। यही कारण है कि नामवर सिंह शमशेर और मुक्तिबोध दोनों को परस्पर विरोधी युग्मक मानते हैं।

स्वयं मुक्तिबोध कविता में ठोस सम्मूर्तन के पक्षधर न होकर 'कर्कश विद्रोह-स्वर अथवा गली कूलों की धूल और मिट्टी को बदरंग तसबीर अथवा क्रांतिकारी चण्डता' के पक्षधर हैं। वे कविता में आवेश और मानव-जीवन की प्रतिष्ठा के हिमायती है - ' .... पर इसके विपरीत, राजैतिक भावावेश से काव्य-विद्रूप करार दिया

---

१. कृति, प्रवेशांक, १६५८, पृ० ११

२. कृति, प्रवेशांक, १६५८, पृ० १२

गया अथवा उसकी जानबूझ कर उपेक्षा की गयी, जहाँ भी ऐसा प्रतीत हुआ कि अन्य की जीवन-दृष्टि उत्पीड़ित जनता का पक्ष ले रही है, वहीं नाक-भौ सिकोड़े जाने के चिह्न दिखायी दिये। ये सौन्दर्यवादी लोग यह भूल गये कि बंजन काले स्याह पहाड़ में भी एक अजीब वीरान भव्यता होती है, गली के अंधेरे में उगे छोटे-से जंगली पौंधे में भी एक विचित्र संकेत होता है। विशाल व्यापक मानव-जीवन में पाये जाने वाले भयानक संघर्ष के रौद्र रूप, उनकी सौन्दर्याभिरूचि के फ्रेम के बाहर थे। आप मुझे क्षमा करेंगे यदि मैं यह कहूँ कि नयी कविता में आवेश के पक्ष काट दिये गए कल्पना को अपने पिंजरे में पालकर रखा गया। उसे मानव जीवन के मूर्त और साक्षात् करने वाली रचनात्मक शक्तियों के रूप में उपस्थित नहीं किया गया, क्योंकि वह एक विशेष प्रकार की भद्रजनोचित सौन्दर्याभिरूचि के फ्रेम के खिलाफ जाती थी। व्यक्ति मन की बात करते आत्मा की महान् दुर्दम्, विप्लवकारिणी ज्ञानमूलक शक्ति को भुला दिया गया। 'लघु मानव' के सिद्धान्त का प्रचार किया गया। संक्षेप में, ह्रासग्रस्त सभ्यता को उलटने वाली महान भावनाओं को परित्यक्य करके, तथाकथित आधुनिक भाव बोध को उद्घोषित किया गया।"१

कविता में ओजस्विता और उदात्तता मुक्तिबोध के साहित्य की बुनियादी मांग है ओजस्विता और उदात्तता मुक्तिबोध की कविताओं का एक स्वाभाविक गुण है। ज्यों-ज्यों वे मार्क्सवादी विचारधारा की ओर अग्रसर होते हुए, त्यो-त्यों यह गुण उनकी कविता में क्रमशः उत्कर्ष प्राप्त करता गया। 'तार सप्तक' के बाद की उनकी कविताओं में यह गुण अधिक प्रखर रुप से प्रकट होने लगा। धीरे-धीरे उत्कर्ष को प्राप्त कर उनके

---

१. मु०रच०भाग-५ पृ० १६२

काव्य-बिम्ब उदात्त हो उठे। १६४४ में रचित उनकी 'लाल सलाम' कविता में उदात्त चित्रों की बहुलता है। सोवियत संघ में उदित नयी समाजवादी सभ्यता का यह उदात्त चित्र काफी प्रभावशाली है।

कोई नयी सभ्यता है, वह सौ सूर्यो का प्रात,

अब तो सौ समुद्र, सौ नदियाँ, सौ चन्द्रो का रात।''१

मुक्तिबोध के काव्य मे जहाँ गतिशील वस्तुओं की 'लहरदार' छवि के रेखांकन की अपूर्व क्षमता है वही गतिशील वस्तुओ को स्थिर रुप देने की भी अपूर्व क्षमता है। नि०लि० कविता में यह बिम्ब देखा जा सकता है

आप-पास/ काली ठंडी चट्टानें फेली दूर-दूर तक

जमी हुई लहरों-सी/मानो कोई भव्य-वक्ष सुविशाल सिन्धु

जम गया/कठिन प्रस्तर-रूपा हो गयीं चुम्बनातुर लहरें ....

प्रसंग में 'जमी हुई लहरों सी' सिन्धु का जम जाना गतिशील चित्र का स्थिर हो जाना है। उसी तरह 'चुम्बनातुर लहरों' का 'प्रस्तर-रूपा' हो जाना भी स्थिर हो जाना है।

अन्य प्राकृतिक उपादानों की तरह 'विहग' भी मुक्तिबोध का एक प्रिय बिम्ब है, जो कहीं-कहीं जन-पीड़ाओं का प्रतीक होकर आया है। वह कविता में सूक्ष्म संवेदनानुभूति के रूप में उपमान की तरह प्रयुक्त है जो उनके बिम्बों को अपेक्षित विस्तार देने और उन्हें गम्भीर बनाने में सहायक है -

---

१. मु०रच०, भाग-१, पृ० १०१

व्रण लाल जन-भ्रातृत्व जन-मातृत्व की

वह एक विकल विहंगिनी-सी आत्मा/है तड़फड़ाती, फड़फड़ाती पंख।

नीपर की तरंगित वेदनाओं से भरी/विक्षुब्ध धारा में/डुबोकर चंचु

जल पीते हुए वह विहंगिनी/सारी गरीबिन मनुजता की पीड़नाओं की

बनी है संगिनी-/यों आज तेरी आत्मा में बोलती वह बिहगिनी

'सूरज के वंशधर' कविता में हिन्दुस्तान के कई कल्पित भाव-चित्र खींचे गये है। उनमें से द्रष्टव्य हैं -

जिन्दगी की धज्जियों से बनी हुई कुटियों में लोग-बाग

ठिठुरते प्राणों को/तापते हैं रात भर

आत्मा में भरते हैं ऊष्मा की किरणें।

औं'प्रकाश के अग्निफूल/मुस्कुरा उठते हैं सूरज के वंशधर !!

भारतीय अंधेरी गलियों में चमकता है चॉंद भी

धनी-धनी स्याह पाप-छायाएं करता हुआ मूर्तिमान

दरिद्र बस्ती को, बस्ती के अंधेरे को

उद्‌घाटित करता हुआ/चमकता है जन-पथ''१

संदर्भ में आये हुए बिम्ब पूरी तरह कल्पित भाव-बिम्ब हैं। 'जिन्दगी की धज्जियों' को कवि नें कुटिया के रूप में मूर्त किया है जिसमें बैठने वाले लोग-बाग 'ठिठुरते प्राणों के अलाव की तरह तापते है। अलाव के द्वारा आत्मा में ऊष्मा को किरणों को भरना

---

१. मु०रच०, भाग-१, पृ० २६५

एक अर्थ-प्रसू भाव-बिम्ब है। 'प्रकाश के अग्निफूल' कल्पित संवेदनानुभूति का विषय है। भारत की अंधेरी गलियों में चाँद का पाप-छायाओं को मूर्तिमान करने के लिए चमकना विशेषण-विपर्ययजन्य चमत्कार से ही सम्भव हुआ है। दरिद्र बस्ती और उसके अन्धेरे के उद्घाटित होने से जन-पथ का चमकना चामत्कारिक होने के साथ-साथ एक प्रयोजन विशेष का भाव-बिम्ब है।

मुक्तिबोध मानव जीवन के जटिल पक्षों के कवि हैं। उनके जीवन में संघर्ष और तनाव का विशेष महत्व था, इसलिए उनके बिम्ब ज्यादा जटिल और संश्लिष्ट हैं। उन्होनें अपनी किसी भी कविता में परम्परा से चले आ रहे सुनिश्चित सीमाबद्ध चित्र निर्मित नहीं किये। पैब्लोनेरूदा की तरह उन्होनें बिखरे हुए बिम्बों में ही ज्यादा रूचि दिखलाई है। उनके बिम्ब अनुभूति की संश्लिष्टता के साथ-साथ शिल्प के कौशल का भी प्रमाण है।

'तार सप्तक' में संग्रहीत मुक्तिबोध की आरम्भिक कविताओं में कुछ ऐसे बिम्ब हैं जिन्हें विषय के विचार से प्रकृति के और एन्द्रीय संवेदना के विचार से चाक्षुष कहा जा सकता है -

> उस जलधि की श्याम लहरों पर जुड़ा आता
>
> सघनतम श्वेत, स्वर्गिक फेन, चंचल फेन।
>
> जिसको नित लगाने निज मुखों पर स्वप्न की मृदु मूर्तियों सी
>
> अप्सराएं सांझ-प्रात
>
> मृदु हवा की लहर पर से सिन्धु पर रख अरूण तलुए

उतर आयी कांतिमय नव ह्रास लेकर

यहां सांझ-प्रात की नवयुवती अप्सराओं के साथ साम्य विधान है। सांध्य और उषा कालीन क्षितिज की रक्तिमता का उन नवयुवती अप्सराओं के अरूण तलुओं के साथ अभेद दिखलाया गया है, जिन्हें मृदु हवा की लहरों के सहारे सिन्धु के चंचल स्वर्गीय फेन पर होठों के कांतिमय नवहास लेकर हौले से रखती है। इस विधान के कवि की रंग-चेतना सजग है - 'श्याम लहरें', 'सघनतम श्वेत फेन' और 'अरूण तलुए' इस क्रम में विशेष रूप में लक्ष्य करने योग्य हैं।

'भूल गलती' कविता में अवसरवादी, सुविधाभोगी वर्ग को सशक्त शब्दों में बेनकाब किया गया है। यह एक व्यंगपरक रूपक कविता है, जिसमें भूल-गल्ती तानाशाह की तरह दिल के तख्त पर बैठी हुई है और उसके सामने ईमान को कैद करके लाया गया है-

सामने/बेचैन धावों की अजब तिरछी लकीरों से कटा

चेहरा/कि जिसपर कॉप/दिल की भाव उठती है ....

पहले हथकड़ी वह एक ऊँचा कद/समूचे जिस्म पर लत्तर

झलकते लाल लम्बे दाग/बहते खून के । वह कैद करके लाया गया ईमान

सुल्तानी निगाहों में निगाहें डालता,

बेखौफ नीली बिजलियों को फेंकता/खामोश !!"[१]

यह है कैदी ईमान का रोमांचक बिम्ब, जिसके जिस्म पर बहते खून के

---

१. मु०रच० भाग-२, पृ० ४२७

झलकते लाल लम्बे दाग हैं। सुल्तानी निगाहे डालने और बेखौफ नीली बिजलियों को फेंकने का सन्दर्भ प्रभावशाली होने के साथ-साथ आतक प्रसू है। पूरा प्रसंग कल्पित ऐन्द्रिय संवेदनाओं का है। नीली में रंग संवेदना है।

प्राकृतिक उपादनों से बना हुआ एक सघन बिम्ब है, जिसकी परिकल्पना वातावरण के निमार्ण के लिए की गई है।

चांदनी के माध्यम से कवि नें आधुनिक नगर संस्कृति की खुले शब्दो मे विडम्बना की है -

खूबसूरत अमेरिकी मैग्जीन/पृष्ठों-सी खुली थी,

नंगी-सी नारियों के/उघरे हुए अंगों के/विभिन्न पोजों में

लेटी थी चाँदनी/सफेद/अंडरवियर-सी, आधुनिक प्रतीकों में,

फैली थी/चाँदनी"[१]

यहां चांदनी का नंगी-सी नारियों के उघरे हुए अंगों के साथ साम्यविधान है। 'विभिन्न पोजों में' चांदनी को लेटना दिखाकर कवि नें आधुनिक नगरीय जीवन की फैशनपरस्ती का सही चित्र खींचा है। 'सफेद अण्डर वियर-सी' आधुनिक प्रतीकों में फैली हुई चांदनी समाज के एक विशिष्ट संम्भ्रात वर्ग का सही प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती है। कवि नें अपनी अनेक कविताओं में आधुनिक सभ्यता की विसंगतियों और विकृतियों पर करारा व्यंग्य किया है।

मुक्तिबोध की कविताओं में रंगीन मर्यादाओं के जादुई नगर है। ये नगर

---

१ मु०र०च०, भाग-२, पृ ३०५

अयथार्थ और कल्पित है। उसमें बसने वाले लोग और उनकी सभ्यता भी बनावटी है। उनमें हृदय का सहज उल्लास नहीं है, सर्वत्र एक ढकोसला, निपट आडम्बर और कठोर वास्तविकता को छिपाने का कृत्रिम प्रयास है। यह कवि की भेदक दृष्टि से छिपा नहीं है -

पाउडर में सफेद अथवा गुलाबी
छिपे हुए बड़े-बड़े चेचक के दाग मुझे दीखतें हैं
सभ्यता के चेहरे पर।
संस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रो के
अन्दर का वासी वह/नग्न अति बर्बर देह
सूखता हुआ रोगीला पंजर मुझे दिखता है। एक्स-रे फोटो में रोग-जीर्ण
रहस्यमयी अस्थियों के चित्र सा विचित्र और/भयानक।"१

इस प्रसंग में कवि आडम्बरपूर्ण आधुनिक सभ्यता और संस्कृति की विडम्बना करता है। इसके पूर्वापर प्रसंग में कवि नगर की अयथार्थता के संदर्भ में भयंकर दुःस्वप्न के विश्व रूप 'कर्म के फल पर नही-कर्म पर ही अधिकार' जैसे गीतों के वचन को आडम्बर की संज्ञा देता है। ऊपर उद्‌धृत संदर्भ का अर्थ शोषण की सभ्यता के सियाह चक्रव्यूहों के प्रसंग में ही स्पष्ट होता है। सफेद अथवा गुलाबी में रंग तथा सुवासित में गन्ध संवेदना के बिम्ब हैं। एक्स-रे आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति का सूचक है।

'ब्रह्मराक्षस' कविता की उन धनी गहराइयों में एक ब्रह्मराक्षस बैठकर पागल की तरह बड़बड़ा रहा है। उस धनी सून्य गहराई में उसकी ध्वनि गूंज रही है और फिर

---

१. मु०रच०, भाग-१, पृ० २११

उस गूंज की भी अनगूंज उठ रही है -

....ये गरजीत, गूंजती आन्दोलित/गहराइयों से उठ रही ध्वनियां, अत

उदभ्रांत शब्दों के नये आवर्त में/हर शब्द निज प्रति शब्द को भी काटता

ध्वनि लड़ रही अपनी प्रतिध्वनि से यहां।"१

ध्वनि का यह बिम्ब अपनी प्रकृति से ही पर्याप्त उदात्त है।

'मुझे याद आते है' कविता में एक क्षमाशील नारी का बिम्ब है, जो किसी ध्रुव लक्ष्य पर जाने के लिए अपने जीवन को खींचती-सी है। मालूम नहीं कि यह किस आशा में दृढ़ता से इतना कष्ट झेलती है:

मुझे याद आती है/ आंखों में तैरता है चित्र एक

उर में संभाले दर्द/गर्भवती नारी का

जो कि पानी भरती है वजनदार घड़ों से,"२

यह स्मृति बिम्ब है। वह स्त्री गर्भ पीड़ित होने के बावजूद घर की गृहस्थी और अपने पुत्रों के भविष्य के लिए मजदूरी करती है।

जनवादी कवि होने के कारण कवि नें आम जीवन के चलते हुए बिम्बों की योजना प्रचुर मात्रा में की है। मानवकृत बिम्बों की कोटि में रखे जाने वाले ये बिम्ब इस प्रकार हैं -

दिखते हैं सटे हुए बड़े अक्षरो में/मुस्कराते विज्ञापन

---

१. मु०रच०, भाग-२, पृ० ३४६

२. मु०रच०, भाग-१, पृ० २१२

सिनेमा के, दुकानों के रोगों के प्रभीमतर/चमकते हुए शानदार।

सैनिक जीवन से सम्बन्धित बिम्ब इस प्रकार है -

इनके पीछे चल रहा/संगीन नाकों का चमकता जंगल

चल रही पदचाप, तालबद्ध दीर्घ पांत/टैंक-दल, मोटार्र, आर्टिलरी, सन्नद्ध,

धीरे धीरे बढ़ रहा जुलूस भयावना/सैनिकों के पथराए चेहर !

चिढे हुए, झुलसे हुए, विगडे हुए गहरे !"[1]

संदर्भ में सैनिक शासन की आतंकपूर्ण भयावहता का प्रभावशाली चित्र खींचा गया है। सैनिक शासन के आतंक का आलंबन सैनिकों की पदचाप के साथ-साथ 'संगीन नोकों का चमकता जंगल, टैंक-दल, मोटार्र, आर्टिलरी आदि हैं धीरे धीरे बढ़ते हुए भयावह जुलूस का दृष्य परिस्थितियों के तनाव को और भी गहरा रहा है। सैनिकों के पथराए चेहरे चिढ़े हुए, झुलसे हुए, बिगड़े हुए चेहरे आतंकपूर्ण परिस्थितियों में भयावहता का संचार करते हैं।

मुक्तिबोध के अधिकांश बिम्ब मानव जीवन के सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन के विसंत आचरण से जुड़े हुए हैं। उनमें मानव मन का तनाव, बेचैनी और द्वंदग्रस्तता के पर्याप्त संकेत हैं। वे सामान्यतः मानव जीवन के भयावने और त्रासद पक्षों के संवाहक के रूप में आए हैं। उनके काव्य बिम्ब एक विशेष उद्देश्य से सृजित हैं। मुक्तिबोध चूंकि, मानव जीवन के भयावने और त्रासद पक्षों के कवि है, अतः उनके बिम्बों का संसार पर्याप्त जटिल, विस्तृत और वैविध्यपूर्ण है। उन्होनें परम्परागत बिम्बों

---

१. मु० रच०, भाग - २, पृ० ३५६

के अभिप्राय का भी अपनी रूचि और आवश्यकता के अनुरूप पुर्नसंस्कार और पुर्नपरिमार्जन करते हुए मौलिक और नया रूप दिया है। पर उनके अधिकांश बिम्ब उनके स्वयं के चिन्तन और मनन के परिणाम हैं। अतः अधिकाश परम्परा - प्राप्त बिम्बों के अभिप्राय को पूरी तरह उलट दिया है। सृजन के दौरान नये बिम्बों की रचना कवि की महत्वपूर्ण उपलब्धी है।

मुक्तिबोध की कविता में एक विराट बिम्ब लोक है, जिसमें काफी बिखराव और जटिलता है। उनके बिम्बों की सृजनात्मक गरिमा इसमे है कि वे जीवन के गतिमय सत्य को कवि के अपेक्षित उद्‌देश्यों के साथ उनकी पूरी तीव्रता में सामने लाते हैं। उनके बिम्ब पाठक के मन में हलचल पैदा करने वाले और मौलिक अर्थों से युक्त हैं। उनके बिम्ब अनियंत्रित भावुकता, व्यर्थ का शब्दातिरेक एवं मिथ्याभास न होकर ठोस जीवनानुभवों पर आधारित हैं। मुक्तिबोध के बिम्ब इस बात के साक्षी हैं कि वे उचक्केपन, शोषण और फटेहालों की स्थितियों से अच्छी तरह परिचित थे; पश्चिमी संस्कृति से आक्रांत होती हुई भारतीय पीढ़ियों के लिए चिन्तित थे।

प्रतीक

कवि अथवा कलाकार अपनी अनुभूति के जिन गहन गुह्य अंशों को अभिव्यक्ति के प्रचलित साधनों (शब्द, रेखा, ध्वनि आदि) द्वारा अभिव्यक्ति नहीं कर पाता, उन्हें व्यक्त करने के लिए वह जिस साधन का सहारा लेता है, वह प्रतीक कहलाता है। प्रतीक अनुभूति के असम्प्रेष्य अंशों की अभिव्यक्ति के साधन हैं। प्रतीकों में अभिव्यंजना शक्ति प्रचुर मात्रा में रहती है। इस प्रसंग में ध्यातव्य यह है कि काव्य प्रतीक में जितनी

अधिक व्यंजना की क्षमता रहती है, उतनी ही गोपन की भी ; एक साथ उसमें प्रकाशन और गोपन की अद्‌भुत क्षमता सन्निहित रहती है।

काव्य के क्षेत्र में कवि जब सूक्ष्म सौन्दर्य के या चेतना के किसी विशेष की भंगिमा को दीर्घकाल के लिए सुरक्षित रखना चाहता है, तब वह अनिवार्यतः प्रतीक विधान करता है। ऐसी दशा में सम्पूर्ण स्थिति का नहीं, किसी खास संदर्भ के संकेत विशेष का विधान ही प्रतीक में किया जाता है। ताकि वह काव्य सौन्दर्य अपेक्षाकृत स्थायी बन सकें।

आदिमकाल से ही अपनी अनुभूतियों को प्रतीकों के माध्यम से प्रकट करना मनुष्य जाति का स्वभाव रहा है। मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में, जैसे धर्म, ज्ञान - विज्ञान, साधन एवं साहित्य में प्रतीकों का विधान देखने को मिलता है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इन प्रतीकों का रूप एवं अर्थ भिन्न-भिन्न हुआ करता है। सभी प्रकार की अनुभूतियों एवं विचारधाराओं से सहज सम्बद्ध होने के कारण प्रतीकों का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है।

प्रतीक-सृष्टि एक सांस्कृतिक प्रयास है। अपने संदर्भ के प्रति सचेष्ट ईमानदारी उसका अनिवार्य धर्म है। संदर्भ सचेष्ट प्रतीक ही कला-मूल्यों के सर्वोत्तम संवाहक होते हैं। प्रतीक की उत्कृष्टता उसकी संदर्भ सचेष्टा पर ही निर्भर करती है। कविता अथवा कला के प्रतीकों का लक्ष्य किसी अनुभूति उसी रूप में पुनरूत्पादन नहीं होता, जिस रूप में वह पहले थी, बल्कि प्रच्छन्न रूप से उसी के जैसी अनुभूति या भाव जगाना उसका अभीष्ट होता है। इस तथ्य का प्रतिपादन देवराज के इन वाक्यों से भी होता है - "कलाकार को एक अनूभूति होती है और उसके प्रकाशन के लिए वह ऐसे प्रतीकों की खोज करता है जो कुल मिलाकर दुबारा वही या उस जैसी अनुभूति उत्थित कर सकें। जब दूसरी अनूभूति

पूर्वानुभूति के समान नहीं रहता है, तब तक कि वह पूर्वानुभूति के तुल्यार्थक प्रतीक न पाले।"१ एक ही प्रतीक अनेक स्थलों पर क्रियाशील होते हुए कवि या कलाकार की कल्पना के अनुरूप भाव या मनश्चित्र पैदा करने मे समर्थ होता है। किसी प्रतीक से निश्चित अर्थ का उद्घाटन सामान्यतः नहीं किया जा सकता, लेकिन उसकी सम्पूर्ण अनुभूति की जा सकती है। सामान्य और अपेक्षाकृत कम सवेदनशील मनुष्यो के लिए प्रतीकात्मक कथन में कुछ-न-कुछ अस्पष्टता बनी रहती है। कुछ खास प्रतीक ऐसे होते हैं जो चिरकालिक और स्थिर हो जाते हैं। अज्ञेय के शब्दों में - "प्रतीक वास्तव में ज्ञान का एक उपकरण है, जो सीधे-सीधे अभिधा में नहीं बाँधता, उसे आत्मसात् करने या प्रेषित करने के लिए प्रतीक काम देते हैं। जो जिज्ञासाएं सनातन हैं उनका निराकरण करने वाले प्रतीक भी सनातन हो जाते है।"२ उदाहरण के लिए धार्मिक प्रतीक जनमानस के विश्वासों से संश्लिष्ट हो जाने के कारण पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रहते है। अज्ञेय का यह मत भी मूल्यवान है कि "प्रतीक सत्यान्वेषण के साधन होते है।"३ किसी भी साहित्य अथवा कला में जब तक नये-नये प्रतीकों की सृष्टि होती रहती है, समझना चाहिए कि वह साहित्य अथवा कला जीवित है, अन्यथा वह जड़ या मृत हो जाता हैः " कोई भी स्वस्थ काव्य-साहित्य प्रतीकों की, नये प्रतीकों की, सृष्टि करता है और जब वैसा करना बन्द कर देता है, तब जड़ हो जाता है तब वैसा करना बन्द करके पुराने प्रतीकों पर ही निर्भर करने लगता है।"४

१. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, देवराज, पृ० २२२

२. आत्मने पद, अज्ञेय, पृ० ४७

३. आत्मने पद, अज्ञेय, पृ० ४६

४. आत्मने पद, अज्ञेय, पृ० ४२

मुक्तिबोध एक प्रतिबद्ध ककलाकार थे- सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए प्रतिबद्ध, साम्राज्यवाद तथा शोषक शासक वर्गो के उत्पीड़न और आर्थिक परतंत्रता के विरूद्ध संघर्ष के लिए प्रतिबद्ध, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, निम्नमध्य वर्ग के कारणों तथा अधिकारों की रक्षा में जूझनें के लिए प्रतिबद्द। अनुभूति की ईमानदारी के प्रति प्रतिबद्धता मुक्तिबोध के काव्य-सृजन की पहली शर्त है। वे अपनी प्रतिबद्धताओं से किसी-न-किसी रूप मे जुडे हुए है। उनके प्रतीक चाहे वे पौराणिक, एतिहासिक-सांस्कृतिक प्रतीक हों उनके सूक्ष्म एवं जटिल वैचारिक अनुभूतियो के संस्पर्श से उनकी विचार-चेतना के समर्थ संवाहक बन गए हैं। परम्परा-प्राप्त प्रतीकों को भी मुक्तिबोध नें वांछित प्रतीकार्थता प्रदान कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।

मुक्तिबोध नें अपने समय की अन्तश्चेतना और यथार्थ की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की है। प्रतीक उनके लिए कविता के उपकरण मात्र ही नहीं हैं, बल्कि उनकी तीखी और ज्वलित संवेदनाओं के मूर्त रूप हैं। वे वर्तमान जीवन के संघात से ऊर्जस्वित हैं।

मुक्तिबोध नें 'बरगद' का प्रयोग एक आवर्तक अभिप्राय की तरह किया है। संदर्भो के वैविध्य और प्रयोग की भंगिमा के कारण यह एक ही साथ कई अर्थो का संवाहक बन गया है। स्वभावतः इसकी प्रतीकात्मक व्यंजना में भी पर्याप्त गतिशीलता आ गई है --

यह सही है कि चिलचिला रहे फासले/तेज दुपहर भूरी

सब ओर गरमधार-सा रेंगता चला/काल बांका-तिरछा

पर, हाथ तुम्हारे में जब भी मित्र का हाथ फैलगी बरगद की छांह वहीं।

एकाएक भयभीत/पाता हूँ पसीने से सिंचित

अपना यह नग्न मन!/हाय हाय कोई न जान ले

कि नग्न और विद्रूप/असत्य शक्ति का प्रतिरूप

प्राकृत ओरांग-उटांग यह/मुझमें छिपा हुआ है।"१

यह 'ओटांग- उटांग' मनुष्य की बर्बरता और असत्य शक्ति का प्रतीक है। यह कैसी विडम्बना है कि आज का मनुष्य सभ्यता के झूठे आडम्बर मे अपनी पार्शविक शक्तियो को छिपाए रखकर जघन्य कर्म करता रहता है

'चॉद का मुँह टेढ़ा है' एक अत्यन्त व्यंजक प्रतीक शीर्षक है। कविता में 'चॉद' और 'चाँदनी' के माध्यम से समकालीन जीवन की विकृतियों और विडम्बनाओं को उजागर किया गया है। आदि कवि से लेकर आजतक 'चाँद' और 'चाँदनी' सौदर्य प्रतीक रहे हैं, लेकिन मुक्तिबोध के पास वही चॉद कंजी आँख, गंजा सिर हो गया है, उसका मुंह टेढ़ा हो गया है और कवि को उसके मुख पर चेचक के गहरे दाग नजर आने लगे हैं। उसके साथ चाँदनी की विकृति का यह आलम है कि वह-

अधनंगी तनिमा के ओष्ठों-सी/खुली थी

सफेद अन्डरवियर-सी/ब्रेसिये सी

आधुनिक प्रतीकों में पली थी

नंगी सी नारियों के उघरे हुए अंगों के

विभिन्न पोजों में लेटी थी चॉदनी।"२

---

१. १. मु०रच०, भाग-२, पृ० १८०

२. १. मु०रच०, भाग-२, पृ० ३०५

यह भयावह स्याह चाँद स्वातंत्र्योत्तर भारत का चाँद है- 'भयावह स्याह सन् तिरपन का चाँद वह!!'

स्वातंत्र्योत्तर भारत के हालात को प्रतीकात्मक रूप से रेखांकित करते हुए कवि कहता है-

गगन में करफ्यू है/धरती पर चुपचाप जहरीली छिः थूः है!!"१

चाँदनी के विपरीतार्थक रंग 'सार्थक ' 'काला' और 'स्याह' कविता में आवर्तक रूप से प्रयुक्त है। ये रंग भी पर्याप्त सांकेतिक और प्रतीकात्मक हैं। चाँदनी के उजाले के सम्बन्ध में मुक्तिबोध की निजी विशिष्ट अवधारणा है:भुसभुसाते उजाले का फुस्फुसाता षड्यंत्र। कवि ने प्रस्तुत कविता में प्रचलित सौन्दर्य के परम्परागत मान को पूरी तरह बदल दिया है। यहां न तो चाँद का अपना रंग है, और न ही मनुष्य की जिन्दगी का- (१) 'आवारा शोहदों सी चाँदनी' (२) 'जिन्दगी भूरी ही नहीं, वह खाकी है'। आधुनिक पूंजीवादी शोषकों की तरह मुक्तिबोध की चाँदनी भी क्रूर और शोषणधर्मी है- इसकी छाया में तमाम काले कारनामें घटित होते हैं-

बुद्ध के स्तूप में/मानव के सपने/गड़गए गाड़े गए!!

ईसा के पंख सब/झड़ गए झाड़े गए!!/सत्य की

देवदासी चोलियां उतारी गई/उघारी गई

सपनों की आंते सब/चीरी गई, फाड़ी गई!!

बाकी सब खोल है, जिन्दगी में झोल है!!२

---

१. मु०रच०, भाग-२, पृ० ३०४

१. मु०रच०, भाग-२, पृ० ३०६

यहां 'बरगद की छांह' अथवा 'बरगद' मनवीय संवेदना के प्रतीक के रूप में है।

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता में बरगद 'कर्फ्यू' से आतंकित जन अथवा जन-समुदाय के प्रतीक के रूप में है -

इन्हीं हलचलों के ही कारण तो सहसा

बरगद में पले हुए पंखों की डरी हुई

चौकी हुई अजीब-सी गन्दी सी फड़फड़"१

यह बरगद कभी-कभी पूंजीभूत निराशा और विषाद के प्रतीक के रूप में है -

बीहड़ के अन्धकार में भी/जब नहीं सूझ कुछ पड़ता है,

जब अधियारा समेट बरगद/तम की पहाड़ियों-से दिखते।

यह बरगद एक तरह जहाँ परम्परा - बोध का प्रतीक है, वही दूसरी तरफ शोषित और उत्पीड़ित जन के सहयोगी और आश्रय के प्रतीक के रूप में भी है -

भयंकर बरगद/सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों,

गरीबों का वही घर, वही छत, उसके ही तल - खोह-अंधेरे में सो गृहहीन कई प्राणी।

मुक्तिबोध की एक कविता है 'ब्रह्मराक्षस'। एक पौराणिक प्रतीक है जिसे मुक्तिबोध की कविता के संदर्भ में अर्थ के कई आसंगों से जुड़ा हुआ माना जा सकता है

---

१. मु०र०च०, भाग-२, पृ० ३०१

(i) पौराणिक मन का प्रतीक

(ii) अनवरक शोधक का प्रतीक

(iii) ऐसे व्यक्ति के भीतर की चेतना का प्रतीक जो जीवन भर उत्कृष्टता पाने के लिए संघर्षरत रहते हुए आत्मनिर्वासन भोगता है।

कविता का ब्रह्मराक्षस अतीत की समस्त बौद्धिक चेतना का एक प्रभावशाली प्रतीक है। इसलिए वह एक तरफ जहाँ सुमेरी-बैबिलोनी जन-कथाओं से मधुर वैदिक ऋचाओं तक के छन्दस् सूत्रों की जानकारी रखता है, वहीं दूसरी तरफ मार्क्स, एंगेल्स, रसेल, टायनबी, हीडेग्गर, स्पेंगलर, सार्त्र और गाँधी के विचारों की भी नयी व्याख्या करता है। मनुष्य योनि में रहते हुए वह ब्रह्मराक्षस अपने ज्ञान-गर्व में इतना प्रमत्त था कि अपनी विद्या का सही उपयोग नहीं कर पाया। बावड़ी की ऐकांतिक कोठरी में, वह अपना गणित करता रहा और मर गया -

.... मरे पक्षी - सा विदा ही हो गया।"[1] यह ब्रह्मराक्षस निष्क्रिय और अर्थहीन ज्ञान-साधना का, समाज निरपेक्ष संग्रह-वृत्ति का प्रतिरूप हो गया है।

मुक्तिबोध की कविता 'दिमागी गुहान्धकार का औरांग-उटांग' आधुनिक मनुष्य के अचेतन की अंधकारमयी आवर्तों में छिपी पाशविक वृत्तियों का प्रतीक है -

सुनता हूँ ध्यान से/अपने ही शब्दों का नाद, प्रवाह और

पाता हूँ अकस्मात/स्वयं के स्वर में

ओरांग-उटांग की बौखलाती हुंकृति ध्वनियां

---

१. १. मु०रच०, भाग-२, पृ० ३४६

मुक्तिबोध की कविताओं में आया 'भैरों' उस विद्रोही चेतना का प्रतीक है, जो अभावग्रस्त वर्ग की विवशताओं से मुक्त होने की अकांक्षा रखता है

पोस्टर पहलने हुए/बरगद की शाखे ढीढ

पोस्टर धारण किए/भैरों की कडी पीठ,

भैरों और बरगद में बहस खड़ी हुई है

जोरदार जिरह कि कितना समय लगेगा

सुबह होगी कब और/मुश्किल होगी दूर कब!!"१

यहॉ 'सुबह' शोषण पर आधारित सामान्ती व्यवस्था के समाप्त होने का प्रतीक है। कवि ने 'भैरों को जिस रूप में चित्रित किया है, वह परम्परा देवत्वपूर्ण अभिजात्य से पूरी तरह मुक्ति है। वह 'गरीबों के ठांव' में गांव के बिल्कुल बाहर परिव्यक्त रूप में दिखलाई पड़ता है। कविता में वह भारतीय समाज के उस विशाल वर्ग का प्रतिनिधि है, जो तड़क-भड़क रहित है और वर्ण-व्यवस्था की संकीर्णताओं से भी युक्त है।

'अंधेरे में' कविता में एक प्रतीक है 'अरूण कमल'। कविता में कवि ने जिस रूप में इस प्रतीक का प्रयोग किया है, वह पर्याप्त च्यंजक है। यह कवि के काव्यादर्श तथा भाषा की रूढियों के भंजक के प्रतीक के रूप में हैं। अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाते हुए कवि पूर्ण काव्य-भाषा से अलग नयी अर्थ-छवियों से युक्त एक ऐसी काव्य भाषा को उपलब्ध करना चाहता है जो उसके अपेक्षित अभिप्राय की अभिव्यक्ति कर सके -

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे/उठाने ही होगें।

---

१ मु०रच०, भाग-२, पृ० ३१२

तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब।

पहुँचाना ही होगा दुर्गम पहाड़ो के उस पार

तब कहीं देखने को मिलेगी हमको/नीली झील की लहरीली थाहें

जिसमें कि प्रतिपल कांपता रहता/अरूण कमल एक/धसना ही होगा

झील के हिम-शीत सुनील जल मे।

जादुई झील को करनी ही होगी मेरी प्रतीक्षा।''[१]

अचेतना मन गहन निविडता को व्यंजित करने वाले बहुतेरे प्रतीक कवि की कविता में है। चम्बल की घाटी के बियावान पहाडो, अजीब आन और धंसान वाली निचाइयों के सहारे मानव-मन की गहनता और ऐकांतिकता को बड़े ही कौशल से उद्घाटित किया गया है: अपने ही भावों की भयानक/प्रतिध्वनि सुनकर रेंगती है' बर्फीली थर-थर/झुरझुरी दौड़ती है मेरी रग-रग में।

मुक्तिबोध ने अमानुषिता से भरी हुई दमन-व्यवस्था के विरोध में खड़े महाभारत के प्रसिद्ध चरित्र अर्जुन का आधुनिक सभ्यता की विसंगतियों के विरोध में व्यंग्यपरक प्रतीकात्मक प्रयोग निम्न संदर्भ में किया है-

वह संवलाया कलियाया मुंह/है स्नेहभरी चिन्ता में

शाल्मलि वृक्ष तले/उद्विग्न खड़े वनवासी दुर्धर अर्जुन का

जिसके नेत्रों में चमक उठे/चन्दन के पावन अंगारे,

जो सोच रहा क्यों मानव के/इस तुलसी वन में आग लगी

---

१. मु०रच०, भाग-२, पृ० ३८०

क्यों मारी-मारी फिरती है/मन की यह गहरी सज्जनता,

दुख के कीड़ों ने खायी क्यों/ये जुही पत्तियॉ जीवन की............।

संकेत है कि मानव/जीवन के तुलसी वन में आग इसलिए लगी कि समकालीन जीवन में गलत लोगों को ही प्रश्रय मिल रहा है, इसीलिए मानवसुलभ आकाक्षाओं के तरू ठूंठ हो गये। अर्जुन की प्रसग/योजना के माध्यम से कवि का संकेत है कि वर्तमान जीवन की विशंगतियों और शोपण/व्यवस्था की दमनपूर्ण नीति की प्रतिक्रिया में क्रुद्ध और उद्विग्न अर्जुन की तरह कोई भी व्यक्ति गाण्डीव उठाने की सोच सकता है। उस व्यक्ति का क्रोध भी दुर्योधन के दमनपूर्ण अत्याचार से क्रुद्ध अर्जुन के क्रोध की तरह ही होगा। अर्जुन की विवशता अज्ञातवास के कारण थी।

मुक्तिबोध के कवि की यह विशेषता है कि जो प्रतीक उन्हें परम्परा से प्राप्त है, उन्हें भी वे अपनी सर्वनशील प्रतिभा से अपनी विचारधारा के अनुरूप एक नयी अर्थच्छवि प्रदान करते हैं। अपनी प्रतिभा के बल पर उन्होंने जिन नये प्रतीकों का सृजन किया है, उनका उन्होंने अपनी कल्पना के अनुरूप बड़ा ही सार्थक प्रयोग किया है। ऐसे प्रतीकों की संख्या बहुत बड़ी हैं। प्रयोग की यह विपुलता उनके सार्थक कवि की सामर्थ्य की परिचायक है।

फैन्टेसी :-

'फैन्टेसी' शब्द की व्युतपति ग्रीक शब्द **'फैण्टेशिया'** से हुई है, जिसका अर्थ है - ''मानव की प्रवाह रूप में यह माग पर एक काल्पनिक दुनियां का निर्माण करने की

अद्भुत सामर्थ्य।"१ वास्तव में जो कुछ है, उसके समान्तर कल्पित प्रतिरूप के निर्माण को फैन्टेसी कहते है अर्थात यह वह वास्तव का मानसिक अथवा कल्पना/प्रसूत प्रतिरूप होता है। इस सम्बन्ध में ब्योरेवार अध्ययन फ्रायड से शुरू होता है। उसने सपनो के अध्ययन के क्रम में 'कवि और दिवास्वप्न' शीर्षक निबन्ध में कहा कि अतृप्त इच्छाएं फैन्टेसी की प्रेरक शक्तियॉ है। यद्यपि अभी तक मनो व्यापारो का कोई सतोषजनक वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं किया गया है, तथापि काडवेल ने बिम्बों के प्रवाह को (अनिवार्य रूप से दृश्य ही नहीं) स्पष्ट इन्द्रिय बोध या स्मृति से अलग करने के लिए फैन्टेसी की संज्ञा दी है। उन्होंने इसके निम्नलिखित वर्गीकरण किए है: "(क) स्वप्न, (ख) दिवास्वप्न, (ग) मुक्तासाहचर्य, (घ) निर्देशित चिंतित, और (ड़) निर्देशित अनुभूति।"२

स्वप्न में कुछ ऐसे लक्षण होते है जो इसे दूसरे प्रकार के विचारों से अलग करते है। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि इसमें विचार संघनित, स्थानान्तरित और रूपान्तरित इन्द्रिय बोधों के स्मृति-बिम्ब का स्थान ले लेते है। स्वप्न का यह स्वविशिष्ट लक्षण है। फैन्टेसी के सम्बन्ध में काडवेल का कहना है कि "उसके दूसरे सभी रूपों में चिंतक स्पष्ट रूप में अपने परिवेश के प्रति सचेत बना रहता है और अपने को अपनी मुक्त कल्पना की रचना में अवस्थित नहीं करता। वह उन्हें आसन्न परिवेश का दर्जा नहीं देता। स्वप्न देखने वाला ऐसा करता है।"३ फिर भी उसमें इतनी प्रखरता और पूर्ण वास्तविकता आ जाती है

---

१. इन्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ द सोसल साइन्सेज़, वाल्यूम V, अंगेजी संस्करण डेविस एण्ड मिल्स, पृ० ३२७

२. इल्यूजन एण्ड रियलिटी - काडवेल, पृ० १७६

३. इल्यूजन एण्ड रियलिटी - काडवेल, पृ० १७६

कि उससे हमारे आसन्न परिवेश का बोध होता है।

युंग ने सामान्य 'मुक्त साहचर्य' का, अर्थात जाग्रत अवस्था में यथार्थ पर सचेत रूप से ध्यान दिए बिना मुक्त भाव से एक बिम्ब के साथ दूसरे बिम्ब के साहचर्य से निर्मित बिम्बों की छानबीन की। स्वप्न अजस्र मुक्त साहचर्य का एक जटिल रूप है, जिसमें फैन्टेसी का मुक्त प्रवाह पर्यावरण की भौतिक यथार्थता पा लेता है। फ्रायड ने स्वप्न में इस जटिलता मुक्त साहचर्य के तन्त्र को खोल कर रखा।

अति यथार्थवाद की शिल्प-विधि मुक्त साहचर्य पर आधारित रहती है। इसलिए उसमें एक स्वतः स्फूर्त कलात्मक कृति की रचना सम्भव है। ऐसी रचनाएं इस क्लासकीय बुर्जुआ भ्रम को फैलाने का काम करती है कि स्तंत्रता 'अनिवार्यता की अनभिज्ञता' है। फ्रायड और युंग के प्रयोगों ने यह सिद्धकर दिया है कि स्वप्न या मुक्त-साहचर्य स्वतंत्र तो होते ही नहीं उल्टे वे अवचेतन अनिवार्यता के 'कठोर नियतिवाद' से ग्रस्त होते है। मानव-मन की ग्रंथियां स्वतः स्फूर्त प्रेरणाओं को इस बात के लिए बाध्य करती है कि किसी कवि द्वारा रचित फैन्टेसी एक निकृष्ट और संकुचित लोक पर ही बढ़े। स्वप्न क्या है? फ्रायड और रिवर्स इस बात पर एकमत हैं कि शारीरिक दृष्टि से स्वप्न 'निद्रा के संरक्षक' हैं। इनमें केवल वाह्य उद्दीपन, जैसे कि घंटी, जिसकी आवाज स्वप्न में कभी-कभी भ्रम बन जाती है- मनुष्य के आंतरिक उद्दीपन-भूख, यौन लालसाएं, प्रवृत्तिगत इच्छा के ऐसे सभी उभरते हुए विक्षोभ हैं। स्वप्न का 'मै' भी एक समाजीकृत अहं हैं, सामान्य अहं के सम्पर्क से रूपान्तरित एक सहज, अवचेतन, वंशजात, अहं है। स्वप्न जगत भी सामान्य गोचर जगत द्वारा रूपान्तरित पर्यावरण के प्रति सहज अनुक्रिया का जगत है।

यही कारण है कि वास्तविक जीवन की ही भांति स्वप्न में भी भूख और जाग उठने के तकाजों की तृष्टि प्रत्यक्ष फैन्टेसी से होती है- हम खाने या पहनने के स्वप्न देखते हैं जबकि दूसरी की हत्या करने या बलात्कार करने जैसी सहज वृत्तियों का उदारीकरण हो जाता है अथवा फ्रायड के शब्दों में ये 'सेसर द्वारा विरूपित हो जाती है। निश्चय ही सहज वृत्ति के रूप में इनका लक्ष्य न तो हत्या करना होता है, न बलात्कार करना होता है, क्यो कि हत्या और बलात्कार सामाजिक अवधारणाएं है जो सेक्स, और आत्मरक्षण की वृत्तियों के लिए अज्ञात है।

स्वप्न की एक सुविधा यह है कि हमें ऐसे काम करने की छूट देता है, जिन्हें हम जागृत अवस्था में नहीं कर सकते अथवा जिन्हें जागृति में करने में हमें शर्म का अनुभव करते हैं। निद्रा की अन्तमुर्खता में वस्तुतः पर्यावरण तिरोहित हो जाता हैं और इसलिए इससे साथ ही यथार्थ के सामाजिक जगत् का बहुत बड़ा अंश भी लुप्त हो जाता है और बाह्य यथार्थ एक धूमिल अव्यवस्था बना जाता है।

स्वप्न और जीवन में जो फर्क है, उसकी गुंजाइश रखे बिना स्वप्न से जीवन का आना गलत होगा। यह फर्क है जीवन में अधिक सक्रिय भूमिका का जो सचेत रूप में देखने पर एक सामाजिक निर्मित है। सबसे पहले हम एक सहज रूप से जन्म लेते हैं, फिर आत्मचेतन बनते हैं और पर्यावरण के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए अपनी सहज वृत्तियों का अनुकूलन करते हैं, जिसमें हमारी शैशवोचित चेतना, आशाओं, आकाक्षाओं और लक्ष्यों का निर्धारण होता है। स्वप्न में निद्रा की अंर्तमुखता पर्यावरण के कठोर यथार्थ को शून्य कर देती है और इसलिए सामाजिक सुसम्बद्धता में भी इसी के अनुरूप एक शिथिलता

आ जाती है। यह तब तक लुप्त नहीं हो सकती जब तक स्वप्न चेतन बना रहता है और चेतन होकर भी यह महत्व रखता है।

जिस यथार्थ से स्वप्न की चेतन सामग्री बनती है, वह अपनी आद्य और सहज प्रकृति के कारण जागृत चेतना की तुलना में अनगढ़ और सीमित होती है। यह बात केवल वाह्य यथार्थ पर ही लागू नहीं होती, जो स्वप्न में 'स्वप्न विचार' के रूप में आती है, हम इस 'मैं' में किसी श्रेष्ठता या शौर्य के प्रति सचेत नहीं होते, इसके विपरीत यह ऐसा कोई भी काम नहीं करता, जिस पर हमें गर्व हो सके। स्वप्न से जागने के बाद हम इस बात पर काफी खुश होते हैं कि हम 'सचमुच उस जैसे' और वस्तुतः हम वैसे होते भी नहीं हैं।

इसके बावजूद हम स्वप्न के रूप में फैंटेसी को एक उर्ध्वमुखी भूमिका की ओर बढ़ते हुए पाते है। स्वप्न में अहं क्रियाशील होकर यथार्थ का प्रयोग करता है, परन्तु अब यह एक लचीला यथार्थ होता है, जिसमें भौतिक वस्तुओं की कठोरता नहीं होती। स्वप्न में एक रात की अवधि में यथार्थ के प्रत्यक्ष संसर्ग के तत्कालिक तनाव और वास्तविक सामग्री की जोड़-तोड़ की सीमाओं से मुक्त होकर जोड़-तोड़ करना सम्भव होता है।

दिवा-स्वप्न फैंटेसी का अपेक्षाकृत अधिक 'सभ्य' रूप है। यह कल्पनाशील व्यक्ति के यथार्थ की तरह की ही अभिव्यक्ति है। दिवा-स्वप्न में मनुष्य अपने को यथार्थ के अनुरूप ढालता हुआ अपने साथ प्रयोग करता रहता है और फैंटेसी में वह यथार्थ को अपने अनुरूप बनाता हुआ प्रयोग करता रहता है।

फैंटेसी की दुनिया निद्रा के संरक्षक के रूप में होती है। निद्रा में में मनुष्य

प्रकृति के साथ सक्रिय संघर्ष से विश्राम कर रहा होता है और अपनी इच्छाओं के अनुसार प्रतीकों को तथ्य मानकर अपने संघर्ष के चिह्नों को पुनः व्यवस्थित करता है। वह सामाजिक यथार्थ के अर्न्तजगत् में प्रविष्ट होकर उसे अधिकाधिक प्रतिबन्धित करने का प्रयत्न करता है और दूसरी ओर अन्य मनुष्यों ह्रदयों की छाप ग्रहण करने को बाध्य होता है। अतः फैंटेसी के जगत में लोग एक-दूसरे के आवेगात्मक अनुभवों से और यथार्थ के अनुभवों से अविभूत होते हैं।

स्वयं कविता की तकनीक स्वप्न-प्रक्रिया से मिलती-जुलती है। स्वप्न की यह विशेषता है कि इसमें स्वप्न द्रष्टा की प्रमुख भूमिका होती है। वह उसमें हमेशा मौजूद रहता है, भले ही छदम् रूप में ही सही। यही आत्मकेन्द्रिकता कविता की भी विशेषता है। कवि बड़ी सादगी से अपने समस्त प्रभावों, अनुभवों, विचारों और बिम्बों को सीधे · कविता उतारता चला जाता है। जिस प्रकार कविता की तुलना स्वप्न से की जाती है, ठीक उसी तरह कविता की तकनीक स्वप्न की तकनीक जैसी होती है। स्वप्न में एक व्यक्त और एक अवयक्त अर्न्तवस्तु होती है। व्यक्त बिम्बात्मक फैंटेसी होती है और अव्यक्त अंर्तवस्तु भावात्मक यथार्थ होता है।

मार्क्सवादी चिंतक प्लेखानोव ने लिखा है कि रचना करते समय जिन अनुभवों की सृजन-बिम्बों के रूप में परिणति होती है, उन्हें लेखक आसपास के फैले हुए यथार्थ के प्रभावों से ग्रहण करता है और निश्चित बिम्बों के रूप में अभिव्यक्त करता है, लेकिन संवेदनात्मक तथ्यों और रचना में आने वाले कल्पना-चित्रों का प्रक्षेपण एक साथ नहीं हो सकता। अतः रचनाकार उन अनुभवों या संवेदनात्मक तथ्यों को 'अण्डरग्राउण्ड'

होने देता है। ये 'अण्डरग्राउण्ड' अनुभव ही बाद में कवि की रचना-प्रक्रिया से छनकर उसकी रचना में फैंटेसी के रूप में प्रकट होते हैं। फैंटेसी की रचना को यह प्रक्रिया अचेतन से सम्बन्धित है, फिर भी वह सिर्फ उसी से परिचालित नहीं होती, क्योंकि फैंटेसी के काल्पनिक संसार की घटनाएं सामूहिक चेतना को नियंत्रित करती हैं। कविता में जो अचेतन क्रियाएं होती हैं, वे सकारण और साभिप्राय होती हैं। सामूहिक चेतना को नियंत्रित करने की विशेषता के कारण ये अचेतन क्रियाएं कवि के वैयक्तिक दायरे से मुक्त होकर सामूहिक हो जाती हैं।

मनोविश्लेषण शास्त्र नें इस महत्वपूर्ण तथ्य की स्थापना की है कि कविता का जन्म प्रकृति और मनुष्य की जीवनेच्छा के बीच स्थित अर्न्तविरोध से होता है। अर्न्तविरोध का यह तनाव रचनाकार को फैंटेसी की एक ऐसी काल्पनिक दुनियां में ले जाता है जो वास्तविक दुनियां से एक निश्चित और सक्रिय (फंक्शनल) सम्बन्ध रखती है। फैंटेसी का अर्थ केवल कल्पना नहीं है, उसका एक निश्चित भौतिक आधार होता है, इसलिए वह पर्याप्त प्रभावशाली हुआ करती है। कॉडवेल नें इसे इन शब्दों में स्वीकार किया है - "पोइट्री स्प्रिंग्स फ्राम द कांट्राडिक्शन विट्वीन इंसिटंग्स एण्ड एक्सपीरियेंस ऑफ द पोयट दिस टेंशन डिराइव्स हिम टू बिल्ड द वर्ल्ड ऑफ इल्यूजरी फैंटेसी ह्विच येट ए डेफनिट एण्ड फेक्शन रिलेशन टू द रियल वर्ल्ड ऑफ विह्च इज ब्लासम।"[1] मनोविज्ञान में फैंटेसी के सक्रिय होने के कई रूप बतलाए गये हैं, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण रूप स्वप्न का है। स्वप्न-तन्त्र में वास्तविक दुनिया के बदले एक ऐसी दुनिया का निमार्ण होता है जो पूरी तरह स्वतंत्र और स्वायत्त लगती है।

---

१. इल्यूज़ एण्ड रियलिटी - काडवेल, पृ० २७

स्वप्न को सजग मानसिक व्यापार मानते हुए कॉडवेल नें यह स्थापना दी कि स्वप्न-व्यापार जिस व्यक्ति के भीतर चलता है वह अनिवार्यतः सामाजिक व्यक्ति ही होता है। स्वप्न में वह समाज के बहुत सारे विधि-निषेधों से मुक्त होता है, फिर भी स्वप्न की स्थिति में उसे समाज-निरपेक्ष नहीं बनाती और न ही वह व्यक्ति स्वप्न की स्थिति में पूर्णतः सस्कार मुक्त होता है - "ड्रीम्स आर कांशस .... देयरफोर सोसाइटी इज स्अील विद मैन इन ड्रीम इवेन इन ड्रीम द सोशल इगो फेंटास्टिकली फूलफिल्स मैन्स डिजायर्स इन द सोशल वर्ल्ड।"१

रचना-प्रक्रिया की चर्चा करते हुए मुक्तिबोध नें रचना के क्षणों में संघटित होने वाले अनेक प्रकार के वाह्यानुरोधों और दबावों की बार-बार चर्चा की है। ऊपर उद्धृत संदर्भ में कॉडवेल नें भी प्रछन्न रूप से रचना के क्षणों में फैंटेसी की स्थिति में रहकर रचनाकर पर पड़ने वाले सामाजिक दबाओं और अनुरोधों की ओर संकेत किया है। ऐसी रचना में सामाजिक दबावों और वाह्यानुरोधों से मुक्त फेंटेसी-रचनाओं की कल्पना सम्भव नहीं मानी जा सकती। फैंटेसी सामाजिक होने के साथ-साथ रचनाकार के विचार और चिंतन से प्रभावित और नियंत्रित मानी जा सकती है।

मुक्तिबोध अपनी रचनाओं में जिस अबाध और अविरल फैंटेसी की विशाल दुनियां का निर्माण करते हैं, वह उनके अचेतन से सम्बन्धित होने के बावजूद उनके सचेतन जीवन-दृष्टि और समाज-दृष्टि का परिणाम मालूम पड़ती है। उनके लिए चिंतन का एक रूप विशेष फैंटेसी है जो मानसिक क्रिया से सम्बन्धित है तथा तार्किक सिद्धान्तों और

१. इल्यूज़ एण्ड रियलिटी - काडवेल, पृ० १८४

नियमों को मानकर चलती है। मुक्तिबोध देश-काल से कटे हुए आत्मबद्ध सीमित दृष्टि के रचनाकार नहीं थे, बल्कि वे समाज के प्रति अपने के गंभीर उत्तरदायित्वों को समझते थे। यही कारण है कि वे फैंटेसी की कला के माध्यम से अपनी रचनाओ में सामाजिक विसंगतियों और समाज में फैले आर्थिक वैपम्यो की विडम्बना करते थे।

उनके काव्य-शिल्प की सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होनें सामाजिक जीवन के कटु यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए फैंटेसी जैसी अयथार्थ पद्धति का सहारा लिया। ए० लूनाचास्र्की ने यह स्वीकार किया कि जो व्यक्ति जीवन से कटे हुए और यथार्थ से असंतुष्ट होते हैं, वे अनिवार्यतः स्वप्नो और फैंटेसी की भाववादी व्याख्या की थी और कुछ मनोवैज्ञानिकों नें भी उसके प्रति एक निषेधवादी रूख अपनाया और अर्द्ध रहस्यात्मक क्रियाओं का परिणाम बताया।

मुक्बिोध की कविताअें की अर्न्तवस्तु तक गहरे में जाने पर यह अन्तर्विरोध बिल्कुल सतही और अवास्तविक मालूम पड़ता है कि यह यथार्थवादी रचनाकार होकर उन्होनें एक अयथार्थवादी रचना-शिल्प का सहारा लिया। फैंटेसी के माध्यम से मुक्तिबोध का कवि जिन जीवन-वास्तविकताओं का चित्रण करता है, वस्तुतः वह वास्तविक दुनिया के ही समानान्तर है। इन्होनें वस्तु-जगत् से ही रचना के उपादान ग्रहण किये हैं और उन्हें पुनः ऐसे बिम्बों में रूपान्तरित कर दिया है कि उन्हें पहचानना मुश्किल हो गया है। वैसे भी फैंटेसी कलात्मक रचना का एक बहुत ही जटिल और सूक्ष्म रूप में है। एक यूरोपीय विचारक का कथन है कि कलाकार जो बिम्ब निर्मित करता है, वह वस्तु में पहले से निहित रहता है, जैसे संगमरमर के टुकड़े में पहले से स्थित वीनस की मूर्ति। इस तरह बिम्ब वस्तु

का घनिष्ट सम्बन्ध है, पर उसमें कलाकार की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है।

मुक्तिबोध फैंटेसी के चरित्र को अच्छी तरह जानते थे और उसकी रचना-प्रक्रिया को भी उन्होनें बारम्बार विश्लेषित किया है - "कभी-कभी फैंटेसी, जीवन की विस्तृत वास्तविकता के लिए और उसको लेकर उपस्थित होती है .... फैन्टेसी के रंग जीवन-तथ्यों के रंग से मिलते-जुलते हों अथवा उन तथ्यों के रंग से अनुस्युत हों।"[१] 'कामायनी' का विवेचन करते हुए उन्होनें फैंटेसी की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है "जिस प्रकार फैंटेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों, अनुभूति जीवन-समस्याओं का, इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन-स्थितियों का प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार 'कामायनी' में भी हुआ है।"[२] उसमें वस्तुतः एक भावात्मक उद्देश्य समाया रहता है, एक संवेदनात्मक दिशा रहती है। यह दिशा और उद्देश्य ही उस फैंटेसी का मर्म-प्राण है, जिसे धारण कर वह गतिहीन नहीं रह सकती। वह एक गतिहीन स्थिर-चित्र नहीं है ; वह डायनेमिक होती ही उसकी गतिमानता शुरू हो जाती है। मुक्तिबोध के विचार से कला-सृजन के प्रथम क्षण के अन्तिम सिरे पर उत्पन्न होते ही उसकी गतिमानता शुरू हो जाती है। मुक्तिबोध की मान्यता है कि कविता में रची हुई फैंटेसी अश्रृंखलित बिम्बों का स्वच्छ प्रवाह नहीं है और न वह स्वप्न की भाँति अचेतन इच्छाओं से नियंत्रित और परिचालित है। उसका एक निश्चित सम्वेदनात्मक उद्देश्य होता है, जो अनेक जीवनानुभवों से समर्थित, संवर्धित और पुष्ट होता है। फिर भी वह एक क्रिया ही रहती है। जब वह सामाजिक यथार्थ से जुड़ती है

---

१. कामायनी : एक पुर्नविचार, पृ० ७-८

२. कामायनी : एक पुर्नविचार, पृ० २

तो उसका चरित्र रचना-प्रक्रिया को बदलता और प्रभावित करता है। सृजन-प्रक्रिया के दौरान रचनाकार अपने चरित्रों और पात्रो पर अपने सामाजिक दृष्टिकोण का आरोप करने लगता है। फैंटेसी के रूप में प्रस्तुत और उसके अन्तर्गत आये चरित्र और उसके कार्य-व्यापार वास्तविक जीवन-तथ्यों के प्रतीक होते हैं। उनके अन्तर्गत जीवन की समस्त विशेषताएं प्रकट करते हुए कवि अपनी कल्पना द्वारा एक ऐसी चित्रावली प्रस्तुत करता है, जिससे वह तथ्यात्मक जीवन अधिकाधिक प्रछन्न और गौण होकर पहचान में न आए।

फैंटेसी के रचना-शिल्प को मुक्तिबोध एक बुर्जुआ रचना-शिल्प मानते थे, जिसे वे उसके घेरे से बाहर निकालकर समाजवादी कथ्य के सम्प्रेषण का काम लेते हैं। जीवन-यथार्थ के तीव्र संघातजन्य अनुभूतियो से अनुस्यूत कर वे फैंटेसी जैसे अयथार्थवादी रचना-शिल्प से यथार्थ जीवनानुभूतियों के सम्प्रेषण का काम लेते हैं। वे कला-शिल्प और उसकी आत्मा में अन्तर करना जरूरी मानते हैं।

फैन्टेसी में, चूँकि जीवन-पथ प्रतीकात्मक रूप से प्रस्तुत होते है, इसलिए उन्हें अधिकतर सर्वेदनात्मक अनुमान से ही पहचाना जा सकता है अतः कला के शिल्प और उसकी आत्मा में अन्तर करना जरूरी है। कविता में फैंटेसी के प्रयोग की सुविधा यह है कि जिए और भोगे गए जीवन की वास्तविकताओं के सारभूत निष्कर्षों को कल्पना के रंगों में प्रस्तुत करना अपेक्षाकृत आसान होता है। फैंटेसी को शब्दबद्ध करते समय मुक्तिबोध जीवन-यथार्थ को कल्पना के योग से एक ऐसे चित्र का रूप देते हैं जिसमें अद्‌भुत और विलक्षण का रोमांचक योग होता है। वे अपनी कविताओं की विशाल पृष्ठ-भूमि पर कल्पना द्वारा जीवन-यथार्थ का उद्‌घाटन कर पाठक को बिजली की तरह

झटके देतें है। जिस तरह रूस में कायकोव्स्की नें फैंटेसी के शिल्प की रचनात्मक सम्भावनाओं का उपयोग साम्यवादी अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए किया, उसी तरह मुक्तिबोध नें भी किया है। सम्भवतः मायकोव्स्की ही उनको सबसे बड़े शिल्पगत स्रोत रहे हैं। उनके लिए फैंटेसी कला-रचना का एक महत्वपूर्ण औजार है। उनके लिए वह चिंतन और विवेक से समृद्ध है जिसके कारण उन्हें गहरी चिन्ता है कि "मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में/सभी मानव/सुखी, सुन्दर व शोषण-मुक्त/कब होंगे ?" उनकी कविता 'कल होने वाली कविताओं की कविता" है। वह अतियथार्थवादियो के स्वप्नों की तरह अर्थहीन और बेतरतीब फैला हुआ स्वप्न-जाल नहीं है, बल्कि समाज में फैले वर्ग-वैषम्य को पाटने वाली चेतना और ज्ञान से अनुशासित और समृद्ध है। कॉडवेल नें इसे 'स्वप्न का सामाजीकरण' कहा है। मुक्तिबोध का संवेदनात्मक उद्देश्य ही कॉडवेल का अनुशासित अनुभव है।

कविता कवि की मूल वृत्तियों और जीवनानुभवों के बीच के संघर्ष से उद्भूत होती है। इस संघर्ष का तनाव उसे एक भ्रांतिपूर्ण फैंटेसी का संसार रचने को प्रेरित करता है, जो कि यथार्थजगत् से भी एक निश्चित और क्रियात्मक सम्बन्ध रखता है। मुक्तिबोध की कविता ऊपर-ऊपर से अयथार्थ और तिलस्म का एक ऐसा विशाल संसार प्रतीत होती है जिसमें अनहोनी और असम्भव घटनाएं घटित होती हैं -

स्वप्न के भीतर एक स्वप्न/विचारधारा भीतर और

एक अन्य/सघन विचारधारा प्रच्छन्न !!

कथ्य के भीतर एक अनुरोधी/विरूद्ध विपरीत,

नेपथ्य-संगीत!!/मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क

उसके भी अन्दर एक और कक्ष/कक्ष के भीतर

एक गुप्त प्रकोष्ठ और/कोठे के साँवाले गुहान्धकार मे

मजबूत सन्दूक/दृढ़, भारी-भरकम

और उस सन्दूक के अन्दर कोई बन्द है।

इतनी सशक्त फैंटेसी के फ्रेम में लिखी जाने पर भी मुक्तिबोध की कविताएं यथार्थ की वस्तुपरकता पर मानव जीवन के ठोस आधार पर खड़ी है। यथार्थ की वस्तुपरकता के सम्बन्ध में जॉर्ज लुकाच ने लिखा है - "यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिम्ब की वस्तुपरकता समग्रता के सही प्रतिबिम्ब पर निर्भर है इस प्रकार किसी व्योरे की कलात्मक यथातत्थ्यता इस बात पर निर्भर नहीं है कि व्योरा यथार्थ के किसी वैसे ही अंश के तदनुरूप है या नहीं। किसी कलाकृति का कोई ब्योरा वस्तुपरक यथार्थ की समग्र प्रक्रिया में परिशुद्ध प्रतिबिम्ब का आवश्यक अंग होने के कारण जीवन का परिशुद्ध प्रतिबिम्ब होता है। चाहे कलाकार नें जीवन में उसका अवलोकन किया हो अथवा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर उसका कल्पना से सृजन किया हो।"[१] मुक्तिबोध की मान्यता है कि जीवन के वास्तविक अनुभव क्षणों को फैंन्टेसी के माध्यम से ही कविता में व्यक्त किया जा सकता है। अर्थात् जीवन-वास्तव अपनी कलात्मक परिणति में फैंटेसी में बदल जाता है -

मैं विचरण करता-सा हूँ एक फैंटेसी में

यह निश्चित है कि फैंटेसी कल वास्तव होगी।

कवि का विश्वास था कि आज जो कुछ भी फैंटेसी अथवा अयथार्थ प्रतीत

---

१. आलोचना, अंक-१८, पृ० ३२

होता है, कल वहीं सत्य होगा। प्रभु-वर्ग की अमानवीयक्रूरता तथा शोषण के विरुद्ध मानवतावाद के पक्षधर कवि के लिए उज्जवल भविष्य का सपना देखना आवश्यक हो जाता है। कवि को विश्वास है कि शोषण पर आधारित यह समाज चल नहीं सकता 'एक अर्न्तकथा' कविता में स्पष्ट रूप से आते हैं - मेरे प्रतीक रूपक सपने फैलाते हैं आगामी के। अनुभव मर्मो की कोमल टहनियाँ बीनती माँ के साथ दिखलायी पड़ती है। परम्परा-निर्मिति के हित माँ जिन्दगी के कचरे में भी ज्ञानात्मक संवेदनाओं को एक सोद्देश्यता के साथ खोजती है -

घर के आंगन में मैं सुलगाऊँगी

दुनियाभर को उनका प्रकाश दिखलाऊँगी।

समाज की वस्तु-स्थिति की चित्रण के द्वारा कवि जीवन-यथार्थ की सम्प्रेषित करता है। फैंटेसी के सहारे कविता में वस्तु-सत्य के उद्घाटन का सबसे प्रभावशाली उदाहरण 'अंधेरे में' कविता में है। आधी रात निस्तब्ध अंधेरे के सुनसान में एक प्रोसेशन के निकलने का दृश्य विधान है, उसमें कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल, कई प्रकाण्ड आलोचक, विद्वान, विचारक, जगमगाते कवि-गण, मंत्री, उद्योगपति यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात, सभी सम्मिलित हैं। ये दिनभर विभिन्न दफ्तरों, कार्यालयों, केन्द्रों में, घरों में मिलकर षड़यंत्र को स्पष्ट हो जाते है। कवि की इस पर अन्तिम टिप्पणी है यह 'गहन मृतात्माएँ इसी नगर की'।

कवि अपनी अंतिम टिप्पणी को यह कर आगे बढ़ता है, 'यह शोभा-यात्रा है किसी मृत्यु-दल की।' अपराधों साजिशों और हत्याओं के सामाजिक सत्य का राज कविता में

तब खुलता है जब कवि यह कहता है -

"मारो गोली, दागों स्साले को एकदम/दुनिया की नजरों से हटकर

छुपे तरीके से/हम जा रहे थे कि/आधी रात अंधेरे में उसने

देख लिया हमको/व जान गया वह सब

मार डालो, उसको खतम करो एकदम।"१

कविता में इन प्रसंगों की योजना फैंटेसी की शैली में एक छदन-नाट्य-विधान के सहारे की गयी है। इस नाट्य-विधान के अभाव में वस्तु-स्थिति के चित्रण के लिए इतनी प्रभावशाली दृष्य योजना सम्भव नहीं थी।

कवि ने अपने यथार्थ-जीवन में जिन प्रत्यक्ष संकटों का अनुभव किया था, उसका कई प्रकार से प्रकाशन उन्होनें अपनी कविताओं में किया है अपने उद्देश्यों के प्रति पूरी निष्ठा और ईमानदारी के कारण वे जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति करते समय भावना के आवेश में बहने लगते है। जिये और भोगे गए प्रत्यक्ष सत्य का प्रकाशन भावना के स्तर पर तीव्र संवेगात्मक कला-माध्य से ही सम्भव था। वे फैन्टेसी को बड़े गम्भीरता में लेते थे, इसलिए उसे सामाजिक सत्य के सम्प्रेषण का अपेक्षाकृत एक अधिक विश्वसनीय और शक्तिशाली माध्यम के रूप में उपयोग में लाते थे। इतने विस्तृत फलक पर लिखी जाने के कारण ही उनकी कविता "देश के आधुनिक जन-इतिहास का, स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात् का एक दहकता इस्पाती दस्तावेज"२ हो सकी है।

---

१. मु०रच० भाग-२, पृ० ३६०

२. चॉद का मुँह टेढ़ा है, मुक्तिबोध - पृ० २७

कविता में फैंटेसी की शैली के प्रयोग के लिए मुक्तिबोध की आलोचना भी कम नहीं हुई। 'कंक' के मुक्तिबोध विशेषांक में फैंटेसी की शैली की सीमाओं को इन शब्दों में बताया गया - "बिम्ब, प्रतीक, और फंतासी और मिथक आदि भाषा की शक्ति नहीं, सीमा निर्धारित करते है। फंतासी जीवन-स्थितियों के आमने सामने नहीं खड़ा होकर अलग-बगल से उन पर दृष्टि डालने की एक मानसिक क्रिया होती है और यही उसकी सबसे बड़ी सीमा है।"[१] यह वक्तव्य किसी कृति में फैंटेसी की रचनात्मक भूमिका को अस्वीकार करता है। मुक्तिबोध का अपना अनुभव इस टिप्पणी के बिलकुल विपरीत है। वे हर कदम पर सामाजिक यथार्थ का साक्षात्कार करते हैं। सुबह से लेकर शाम तक उनके मन पर इतना अधिक संवेदनात्मक प्रहार होता है कि वे उसे भूल जाने की कोशिश करते हैं। वे लिखते हैं - "दिनभर में इस दुनिया में प्रवेश करता हूँ उसे यदि देखा जाये; तो वह स्वप्न-कथा का ही एक रूप है। वह एक विशाल उपन्यास है। वह एक चित्र-कथा है। उसमें कितनी ही मनोहर और सुकुमार, भंयकर तथा विषादपूर्ण दृश्य है। अगर मैं अपनी तात्कालिक जीवन-गाथा के प्रसंग उठाकर लिखू तो वह बहुत-कुछ हो सकता है ....।"[२] कवि के लिए फैंटेसी संवेदनात्मक अनुभव को पुर्नरचित करने का एक साधन है, उसके माध्यम से वह अपने जीवनानुभवों के कल्पना-चित्र प्रक्षेपित करता है, संसार के ठोस जीवन्त अनुभव में बैठकर आधुनिक जीवन की विसंगतियों को उजागर करता है। फैंटेसी की शैली को अपनाकर वह सामाजिक संघर्ष का सरलीकरण कतई नहीं करता।

---

१. 'कंक' मुक्तिबोध विशेषांक, प्रथम अंक – ५१-५५, पृ० २७

२. मु०रच० भाग-४, पृ० ७६

इस प्रसंग में फरवरी ६२ की "नयी कहानियाँ" में नामवर सिंह द्वारा की गयी इस टिप्पणी को देखना प्रासंगिक होता - "'मेटामार्फोसिस' ऐन्द्राजालिक कहानी इसलिए है कि वह एक ऐसी दुनिया की कहानी है, जिसमें इस दुनिया के कायदे कानून लागू नहीं होते अर्थात् उसके कायदे कानून अलग हैं और अपने है। लेकिन सिर्फ इसी बात से क्या वह दुनिया अवास्तविक है ? अथवा वास्तविक दुनियां तो वह है जो आपाततः 'फैण्टास्टिक' मालूम हो रही है। हो सकता है कि दुनिया के नियमों ने हमारी आंखों पर पर्दा डाल दिया हो और अभ्यासवश अतिपरिचित को ही हम वास्तविक मानकर चल रहे हों। कहीं ऐसा तो नहीं कि अन्तर्दर्शी लेखक नें इस चालू दुनिया के अन्दर छिपी उस असली दुनिया को सहसा 'देख' लिया है और पूरे विस्मय के साथ हमारे सामने उसे उद्घाटित कर दिया और अपरिचय तथा अनभ्यास के कारण हम उसे 'फैण्टास्टिक' कह रहे हैं ?"[१] कहानी पर की गई इस टिप्पणी में यह बात महत्वपूर्ण है कि 'वह हमारी अतिपरिचित दुनिया से अधिक वास्तविक है।' ये बातें कविताओं पर भी इसी रूप में लागू होती हैं। मुक्तिबोध की कविताएं चलते-चलते नाटकीय मोड़ तेली हुई कथा का रूप ले लेती है और अन्ततः एक स्वप्न कथा बन जाती हैं।

मुक्तिबोध नें अपनी कविताअें में फैंटेसी का इस्तेमाल कई रूपों में किया है। कहीं उसका रंग बहुत गाढ़ा है तो कहीं हल्का। कहीं वह प्रतीक और रूपक के रूप में है, तो कहीं कथा के रूप में। उसमें अन्य फैंटेसियों की तरह अतिप्राकृतिक तत्वों की प्रचुरता है। उसमें एक ऐसा विराट् पुरूष है जो सर को आसमान पर थामे है। उसमें टीले बोलती

१. नई कहानियां, फरवरी १९६२, पृ० ३२ नामवर सिंह की टिप्पणी

हैं, हवा क्रांतिकारी प्रवचन करती है, मूर्ति के शरीर से चिनगारियाँ निकालती है और नासिका से खून बहता है, बच्चा फूल के गुच्छे मे बदल जाता है और फूल के गुच्छे बन्दूक में। उसमें देव, राक्षस, भूत-प्रेत, ब्रह्मराक्षस, तांत्रिक, जादूगर आदि है। उनमें वैसी मिथकीय पात्रों की भी कमी नहीं है। जिनके प्रसंगों का उपयोग साम्यवादी वस्तु के सम्प्रेषण के लिए किया गया है - दुहिता-पत्नी सरस्वती, लकड़ी का बना रावण, महाकंस और वसुदेव, शुनःशेष और अजीगर्त तथा इन्द्र। कुछ ऐसे ऐतिहासिक चरित्र भी हैं जो व्यंग्य और विडम्बना के संदर्भ हो गए हैं। 'बेच रहा है कालिदास सड़कों पर कंघी।' कवि की फैंटेसियों में इतिहास और मिथक का अद्भुत मिश्रय देखनें को मिलता है। उसमें बहुत सारी घटनाएं आकस्मिक तौर पर घटती हैं, जैसे अचानक दृश्य-परिवर्तन, अप्रत्याशित घटना का मोड़, एकाएक, अचानक, सहसा, इतने में, और अकस्मात्। कवि की कविता में जो कुछ भी अकस्मात् घटता है, उनकी संगत पूरी तरह फैंटेसी के रचना-शिल्प के साथ बैठ जाती है। अप्रत्याशित और सम्भव होने पर भी मुक्तिबोध की कविता का यथार्थ सिर्फ 'स्वप्न-कथा' का यथार्थ न होकर मानव-जीवन और मानव-समाज का यथार्थ है।

उपसंहार

जन शब्द का सामान्य अर्थ मनुष्यो से है। परन्तु मुक्तिबोध नें अपने काव्य में जन शब्द समाज के उस दलित शोषित एवं अधिकारहीन वर्ग से लिया है जिनको समाज में उचित अधिकार प्राप्त नहीं है, नहीं उनकी मेहनत का सही प्रतिफल मिलता है। पूंजीपति जिनके श्रम का बेजा लाभ उठाता है।

चेतन मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है अर्थात वस्तुओं विषयों एवं व्यवहारों का ज्ञान। चेतना की प्रमुख विशेषता है निरन्तर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह। यह चेतना ही वह निर्णायक शक्ति तत्व है जो जन की सफलता को निश्चित करने, उनको एक दिशा देने का, सही-गलत के अन्तर समझाने का दायित्व निभाती है। जन चेतना वह संवेग है जो लोगों को अपने अधिकारों तथा अपने स्वत्व को जगाने का कार्य करती है। इसके अभाव में अस्तित्वहीनता बनी रहती है।

साहित्य में जन चेतना के प्रतिफलन को सबसे पहले महाराष्ट्रीय समाज में दिखाया गया, लेकिन साथ ही उत्तर प्रदेश, बिहार में इन परिस्थितियों में भी सामन्ती मानसिकता का तर्क युक्त विश्लेषण 'कामायनीः एक पुनर्विचार' में प्रस्तुत करते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य संदर्भ में जन चेतना शब्द का प्रयोग दर्शन एवं राजनीति के क्षेत्र में मार्क्सवादी विचारधारा की स्वीकृति के बाद हुआ। यद्यपि इसकी बुनियाद १७८६ फ्रांसीसी क्रान्ति के समय पड़ चुकी थी। १७८६ की फ्रांस की क्रान्ति

वहाँ के सामन्तों व जमीदारों के द्वारा जनता के शोषण, उत्पीड़न की प्रतिक्रिया स्वरुप फलित हुई। पेरिस कम्यून का निर्माण एवं उसका लम्बी अवधि तक संचालन ने फ्रांस व दुनिया के मेहनतकश मजदूर, किसान, जनता के हृदय में जीवन के प्रति नयी आशा, आस्था व विश्वास का संचार किया। बाद की मार्क्सवादी विचारधारा की पृष्ठ भूमि यही फ्रांसीसी क्रांति ही थी जिसने एक नये राजनीतिक,आर्थिक दार्शनिक सामाजिक परिवर्तन की बुनियाद डाली।

किसी भी साहित्यकार के साहित्य के अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उसके जीवन का अध्ययन कर लेने से उसकी भावभूमि को अधिक गहरायी के साथ जाना एवं पहचाना जा सकता है। मुक्तिबोध का जीवन जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त कई-कई उतार चढावों से गुजरा है। अतः उनके प्रारम्भिक जीवन से लेकर मृत्यु तक का अध्ययन हमे उनके काब्य को समझने में बहुत सहायक होता है। मुक्तिबोध का शोषण किस तरह से प्रकाशकों ने किया, किस-किस विषम सामाजिक जटिलता से उनको गुजरना पड़ा आदि ऐसी बातें है जो उनके काब्य में स्पष्ट देखी जा सकती है। उनकी कविताओं की जटिलता, उनमें पसरा अन्धकार एवं भयावहता तथा तनाव एवं एकाएक कविता का समाप्त हो जाना, ऐसी बातें हैं जो उनके जीवन के अर्थो से बहुत ताल्लुक रखती हैं। यदि हमे कवि की जीवनगत परिस्थितियों का ज्ञान नहीं है तो हम उसके काव्य का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते है।

मुक्तिबोध एक भरे-पुरे परिवार में जन्में थे। उनके पिता जी एक महत्वपूर्ण पद पर कार्यरत थे अतः जीवन की सभी सुख सुविधाएं उनको प्राप्त थी। साथ ही जिस मालवे के सुन्दर वातावरण में पले थे उसका भी प्रभाव उनकी प्रारम्भिक कविताओं में रोमानियत लिए हुए स्पष्ट लक्षित होता है। पिता के सेवा निवृत्त होने के बाद उनकी असली जिन्दगी शुरू हुई और उनके काव्य का भी असली चेहरा धीरे-धीरे सामने आने लगा। उस दौर में जो वैचारिक परिवर्तन हो रहे थे, जिनमें वर्गसां एवं मार्क्स के दर्शन का प्रमुख अवतरण माना जा सकता है, ने भी अपनी मजबूत दस्तक दी। कवि संवेदनशील होता है अतः अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक हलचलों से अप्रभावित नहीं रह सकता, यही कारण है कि उनकी कविताओं ने छायावाद की वायवी, भावात्मक पृष्ठभूमि से निकलकर ठोस, यथार्थ एवं उनकी निजी जिंदगी से सरोकार रखने वाली ऊबड़-खाबड़ तथा कभी न खत्म होने वाली कविताएं प्रतिकलित हुई। स्वतंत्रता आंदोलन के बाद भी जिस सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा थी वह प्रतिफलित नहीं हुआ और वही शोषण, अत्याचार तथा भयंकर अंधेरा ही समाज में छाया रहा, जो हटने का नाम नहीं ले रहा है। अतः इन स्थितियों ने भी कवि की आत्मा को झिझोंड़ा और उनके काव्य में उनकी अन्तः पीड़ा कराहती हुई नजर आती है। उन्होनें उपेक्षितों एवं शोषितों को लामबन्द होने के लिए रूसी क्रान्ति को उदाहरण के रूप में सामने रखा तथा 'अंधेरे में', ब्रह्मराक्षस, चाँद का मुंह

टेढ़ा है, जैसी जबरदस्त कविताओं के माध्यम से सामान्य जनता को उत्साहित एवं प्रोत्साहित किया।

समय-समय पर साहित्य में होने वाले परिवर्तन भी मुक्तिबोध को आंदोलित करते रहे हैं। उनके काव्य की शुरूआत छायावादी प्रवृत्ति की धुर रोमानी कविताओं से है, परन्तु वे पूर्णतः सफल नहीं रहे। क्योंकि निश्चित रूप से छायावाद में एक दर्शन तो था ही, परन्तु मुक्तिबोध उस दर्शन को कभी पकड़ नहीं पाए। अतः वे प्रसाद, निराला, पंत जैसी सशक्त कविताओं की अभिव्यक्ति अपने काव्य में नहीं कर पाए, क्योंकि उनकी यह जमीन भी नहीं थी। १६३६ के 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के बाद नेमिचन्द्र जैन के साहचर्य ने उनको वास्तविक धरातल पर पहुंचाया। इस दौर में भी वे एक बने फ्रेम में नहीं सेट हो पाये क्योंकि उनके काव्य का फलक तो और अधिक विस्तृत था। अतः निश्चित तौर पर किसी भी वाद या दर्शन का पिछलग्गू सिद्ध करना कवि के साथ न्याय नहीं होगा। वास्तव में कोई भी बड़ा कवि किसी एक घेरे में नहीं बँध सकता है क्योंकि उसकी दृष्टि पारदर्शी होती है। निश्चय ही मुक्तिबोध भी इसी तरह थे।

मुक्तिबोध के काव्य का स्वरूप भी समय के अनुसार बदलता रहा। क्योंकि जब तक कवि की अनुभूति का दायरा सीमित था वह परम्परागत ढंग से कविताएं कहता रहा। धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन हुआ क्योंकि अब उनको समाज का वह सत्य दिखाई देने लगा था जिसका न कोई ओर है नहीं छोर। जो न कही से शुरू

है न अन्त लेने की ओर अग्रसर। उन स्थितियों की पहले से कोई तुलना भी नहीं है अतः कवि के सामने कई समस्याएं थी। पहली बात तो यह थी कि कविताएं कैसे उसकी अनुभूति को स्पष्ट कर सकें, अतः इसी सम्पूर्ण के स्पष्टीकरण के चक्कर में वह इतनी लम्बी-लम्बी कविताएं लिखने लगा कि वे अन्तहीन ही रही। दूसरी यह कि किस भाषा में सच्चाई को उद्घाटित किया जाये जिससे बात पूरी कही जा सके। तीसरी यह कि चूँकि विकराल एवं एकदम नई सामाजिक समस्याओं को अभिव्यक्ति कैसे दी जाये। अतः उसने काव्य में अभिव्यक्ति के एकदम नये प्रतिमान तलाशे जो न पहले कभी थे और नहीं शायद कोई ऐसे प्रतिमानों का निमार्ण कर पाएगा। उसने पुरानी भाषा, प्रतिमान, बिम्ब, प्रतीक आदि को एकदम नये सिरे से गढ़कर उन समस्त परम्परागत साहित्यिक तथ्यों की उपेक्षा की जो आज के समाज की सच्ची एवं ठोस अनुभूति को व्यक्त करने में युगानुकूल नहीं रह गये थे। इसीलिए मुक्तिबोध के काव्य में एकदम नई काव्य भाषा, कविता कहने का तरीका बिम्ब, प्रतीक एवं नई अभिव्यक्ति शैली-स्वप्न दर्शन के माध्यम से कविता कहने की शुरूवात की। यही शैली जो फेंटेसी है उनकी कविता की सबसे अनूठी पहचान है।

अन्त में उनके काव्य विश्लेषण के पश्चात् निष्कर्ष यही कहा जा सकता है कि समाज की विद्रूपताओं, तनाव, शोषण एवं अत्याचार की अभिव्यक्ति जिस सिरे से हुई है वह केवल मुक्तिबोध के ही बस की बात है। जिस गहराई से उन्होनें समाज की समस्याओं की तरफ अपने काव्य में संकेत किया, शायद उनका स्वयं का जीवन

उसमें सहायक अवश्य है। उनके अन्दर सामान्य आदमी को अधिकार वंचित एवं शोषकों द्वारा चूसा जा रहा है, के लिए असीम दर्द एवं वेदना है। वे समस्त प्रकार के शोषण के विरूद्ध खड़े एक मजबूत साहित्यिक ईमानदार सिपाही हैं। उनके यहाँ किसी तरह का फरेब या चाल नहीं है। सच्चाई ही उनके जीवन का आधार है। निश्चित रूप से ऐसा ईमानदार एवं सच्चा काव्य सेवक ही समाज में जन चेतना ला सकता है एवं जन की समस्याओं को शिद्दत के साथ उठा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ

हिन्दी

१. मु० रच० भाग - १

२. मु० रच० भाग - २

३. मु० रच० भाग - ३

४. मु० रच० भाग - ४

५. मु० रच० भाग - ५

६. मु० रच० भाग - ६

७. हिन्दी साहित्य कोष - ज्ञान मण्डल वाराणसी

८. द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की सरल रूपरेखा - बुद्धि प्रसाद भट्ट

६. आधुनिक हिन्दी साहित्य - स०ही० वात्स्यायन अज्ञेय

१०. कला साहित्य और संस्कृति - ई०एम०एस० नम्बूदरीपाद

११. आधुनिक बोध और विद्रोह - डा० हरदयाल

१२. संघर्ष परिवर्तन और साहित्य - डा० महीप सिंह

१३. यथार्थवाद - डा० शिव कुमार मिश्र

१४. जलते और उबलते प्रश्न - डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

१५. भारत की खोज - पं० जवाहर लाल नेहरू

१६. चार्वाक दर्शन - अनवर आगेवान

१७. सांस्कृतिक परम्परा और साहित्य - तारकनाथ बाली

१८. अतियथार्थवाद - डा० राम स्वरूप चतुर्वेदी

१६. साहित्य सहचर - डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

२०. तार सप्तक - संपा० अज्ञेय

२१. हिन्दी काव्य में छायावाद - डा० दीनानाथ शरण

२२. छायावादोत्तर काव्य - श्री सिद्धेश्वर प्रसाद

२३. नया साहित्य : नये प्रश्न - आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी

२४. पश्चिमी दर्शन - डा० दीवान चन्द

२५. प्रगतिवाद - डा० शिव कुमार मिश्र

२६. नया हिन्दी काव्य - डा० शिव कुमार मिश्र

२७. नई कविता नये कवि - विश्वम्भर मानव

२८. साहित्य धारा - प्रकाश चन्द्र गुप्त

२६. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ - डा० राम बिलास शर्मा

३०. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड - रांगेय राघव

३१. नयी कविता के प्रतिमान - लक्ष्मीकान्त वर्मा

३२. कविता और कविता - डा० इन्द्रनाथ मदान

३३. छायावाद - संपा०, उदय भानु सिंह

३४. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध - महादेवी वर्मा

३५. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य राम चन्द्र शुक्ल

३६. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ - डा० नगेन्द्र

३७. कामायनी - जयशंकर प्रसाद

३८. हलफनामा - प्रो० प्रमोद वर्मा

३९. रचना और आलोचना - देवीशंकर अवस्थी

४०. नई कविता के प्रतिमान - प्रो० नामवर सिंह

४१. आस्था के चरण भाग-१ - डा० नगेन्द्र

४२. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान - डा० नागेश्वर लाल

४३. आत्मने पद - स०ही०वा० अज्ञेय

पत्रिकाएँ

१. राष्ट्रवाणी

२. वीणा

३. कर्मवीर

४. सोवियत भूमि पत्रिका

५. माध्यम

६. ज्ञानोदय

७. धर्म युग

८. कमला

६. हंस

१०. फिलहाल

११. आलोचना

१२. क्ष त्र ज्ञ

१३. कृति

१४. कंक

१५. नई कहानियाँ

१६. अभिप्राय

१७. सारिका

१८. आजकल

१६. तटस्थ

२०. सरस्वती

अंग्रेजी गन्थ

१. इन्ट्रोडक्शन टू माडर्न फिलासफी - सी०ई०एम० जोड

२. लिटरेचर एण्ड आर्ट - मार्क्स एंजिल

३. इल्यूजन एण्ड रियलिटी - काडवेल

४. द फ्रेंच रिवोल्यूशन - प्रो० गोटानो साल्वेमिनी

५. हिस्ट्री ऑफ रियलिज्म - बोरिस सुखोव

संस्कृत ग्रन्थ

१. यर्जुवेद